This Book is the Hindi translation of 'The True Book About the Earth' by Patrick Moore, F. R.A. S., Published by Frederick Muller Ltd., London.

प्रथम संस्करण

सितम्बर, १९६७

लेखक

पैट्रिक मूर

चित्रकार

पैट्रिशिया कल्लन

अनुवादक: [illegible], एम. ए.

पुनरीक्षण: देवेन्द्रकुमार, एम. ए., पी-एच. डी.

मूल्य : रु० 3.50

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
चन्द्रलोक, जवाहरनगर, दिल्ली–७

बिक्री-केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली–६

मुद्रक : उद्योगशाला प्रेस, दिल्ली–९

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा-मंत्रालय के तत्त्वावधान में पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तकें उच्च कोटि की हों, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महँगी न हों ताकि सामान्य हिन्दी-पाठक उन्हें खरीद कर पढ़ सकें। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाएँ बनाई गई हैं, उनमें से एक योजना प्रकाशकों के सहयोग से पुस्तकें प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशकों को या तो वित्तीय सहायता प्रदान करती है अथवा निश्चित संख्या में प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ खरीद कर उन्हें मदद पहुँचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद और कॉपीराइट इत्यादि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वयं की है तथा इसमें शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमें विश्वास है कि शासन और प्रकाशकों के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तकें हिन्दी के पाठकों को उपलब्ध हो सकेंगी।

आशा है, यह योजना सभी क्षेत्रों में लोकप्रिय होगी।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

निदेशक

विषय-सूची

चित्र-सूची

प्रथम अध्याय

पृथ्वी का आरम्भ

पृथ्वी हमारा निवास स्थान है। हमारे लिए यह सारे ब्रह्मांड में सबसे महत्वपूर्ण पिंड है और हम इसका हिमाच्छादित ध्रुवों से लेकर एवरेस्ट शिखर तक, दक्षिणी अमेरिका के घने, दलदल भरे वनों तक और प्रशान्त महासागर की गहराइयों तक भली भांति अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं। यह दावा करना तो गलत होगा कि हमें पृथ्वी-तल के प्रत्येक वर्गमील का ज्ञान है, किन्तु कम से कम इतना हम निश्चय से कह सकते हैं कि ऐसे कोई "लुप्त महाद्वीप" अब नहीं हैं, जिनकी खोज की जानी अभी शेष हो।

फिर भी, पृथ्वी वस्तुतः कोई महत्वपूर्ण पिंड नहीं है। यह एक गोला है, जिसका व्यास लगभग आठ हज़ार मील है और यह उन नौ "ग्रहों" में से एक है, जो एक केन्द्रीय तारे, सूर्य, के चारों ओर घूम रहे हैं। यह सबसे बड़ा भी ग्रह नहीं है। सबसे बड़ा ग्रह होने का गौरव बृहस्पति को प्राप्त है, जो इतना बड़ा है कि उसमें एक हज़ार से अधिक पृथ्वियां समा सकती हैं। और स्वयं बृहस्पति सूर्य की तुलना में बहुत छोटा है। अब से चार सौ वर्ष पहले तक सामान्यतया यह माना जाता था कि यह पृथ्वी ही सारे ब्रह्मांड का केन्द्र है और सब आकाशीय पिंड (ग्रह और तारे) इसी के चारों ओर घूमते

हैं; परन्तु अब हमें मालूम है कि निश्चय ही यह बात सही नहीं है।

पृथ्वी का सम्पूर्ण अन्वेषण अवश्य ही अभी आधुनिक काल में ही हुआ है। एक हज़ार वर्ष पहले, जब इंगलैंड पर सैक्सन लोग शासन करते थे, कुछ थोड़े से हिम्मती वाइकिंग लोगों के सिवाय किसी को अमेरिका का पता ही नहीं था और "नई दुनियां" (अमेरिका) में जो असभ्य लोग निवास करते थे, उन्होंने कभी शार्लमेन या अल्फ्रैड महान जैसे यूरोपीय राजाओं का नाम भी न सुना था। पृथ्वी के दो गोलार्धों के बीच उस समय किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था और आस्ट्रेलिया जैसे और भी अलग-थलग पड़े देश बिल्कुल ही अज्ञात थे।

इतिहास हमें अतीत में कुछ दूर तक वापस ले जा सकता है। दो हज़ार वर्ष पहले संसार में सबसे महान शक्ति रोम था; रोम से पहले यूनान, चीन और मिश्र में उन्नत सभ्यताएं थीं। परन्तु कल्पना कीजिये कि हम केवल कुछ हज़ार वर्ष ही नहीं अपितु कुछ करोड़ वर्ष अतीत की ओर लौट जायें, तब क्या होगा? हम एक ऐसे काल में जा पहुँचेंगे, जिसमें असली "मनुष्य" थे ही नहीं और जिसमें पृथ्वी पर टिरैनौसौरस जैसे दैत्यकाय सरीसृपों का राज्य था; यह टिरैनोसौरस एक विशाल प्राणी था, जो चालीस फुट लम्बा होता था और उसके दांत छह-छह इंच लम्बे होते थे। टिरैनौसौरस के दिनों में, शायद अब से दस करोड़ वर्ष पहले, पृथ्वी का नक्शा आजकल के भौगोलिक मानचित्र जैसा नहीं था। उष्ण कटिबंध के अधिकांश अंचल को एक विशाल महाद्वीप, गोंडवानालैंड, ने घेर रखा था और उसके उत्तर में एक लम्बा समुद्र था, जिसे टैथिस सागर कहा

जाता है। जिस जगह आधुनिक ब्रिटेन है, उस जगह एक अन्य महाद्वीप का, जो अब लुप्त हो चुका है, पश्चिमी छोर था।

लिखित इतिहास का आरम्भ केवल कुछ हज़ार वर्ष पहले हुआ और उससे पहले के युगों के इतिहास को 'भू-विज्ञान' अर्थात् पृथ्वी के विज्ञान का विषय मानना अधिक उचित है। भू-वैज्ञानिकों की अनुसन्धान की अनेक पद्धतियां हैं। वे उन शैलों के, जिनसे पृथ्वी की पपड़ी बनी हुई है, स्वरूप और क्रम का अध्ययन करके बहुत कुछ पता चला सकते हैं और वे फॉसिलों (जीवाश्म, पत्थर बन गये प्राणी या बनस्पतियों) से भी, जो उन प्राणियों के अवशेष हैं, जो किसी समय हमारे इस ग्रह (पृथ्वी) पर रहते थे, किन्तु अब मरकर समाप्त हो गये हैं, बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। फॉसिलों के अध्ययन को 'जीवाश्म विज्ञान' (पैलियोन्टोलौजी) कहा जाता है, जो उन लम्बे और भद्दे से नामों में से एक है, जिन्हें गढ़ने में विज्ञान-वेत्ताओं को आनन्द आता प्रतीत होता है। इन नामों में से बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें मज़े से छोटा किया जा सकता है, किन्तु इन्हें याद करना कठिन नहीं है, और क्योंकि ये बहुत से वर्षों से प्रयोग में आ रहे हैं, इसलिए यदि अब इन्हें बदला जाये, तो इससे बहुत घपला हो जायेगा।

भू-विज्ञान और जीवाश्म विज्ञान की भी अपनी सीमाएं हैं। जो शैल ५० करोड़ वर्ष से भी बहुत अधिक पुराने हैं, उनमें हमें कोई जीवाश्म अर्थात् प्रस्तरीभूत प्राणी नहीं मिल पाते। इससे यह सूचित होता है कि या तो उस काल से पहले कोई जीवित प्राणी थे ही नहीं, या फिर जो बिल्कुल शुरू के प्राणी थे, वे इतने कोमल शरीर वाले थे कि उनके कोई ऐसे

अवशेष बचे ही नहीं, जो जीवाश्म अर्थात् फॉसिल बन सकते। शैलों के अध्ययन से हमारी कहानी कुछ और दूर पीछे तक जा सकती है, किन्तु आखिरकार उसका भी अन्त आ जाता है। अपने पृथक् अस्तित्व के बिलकुल आरम्भिक दिनों में पृथ्वी ठोस थी ही नहीं, इसलिए हमें विशुद्ध सिद्धान्त (कल्पना) पर आश्रित हो जाना पड़ता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी नये मकान को खरीदता है, तो उसे अवश्य ही यह जानने की इच्छा होती है कि वह मकान कैसे और कब बना था। हमें यह जानने की इच्छा होती है कि उसे बने कितना समय हुआ, उसमें पहले कौन रहता रहा, और ठीक-ठीक यह बात, कि आखिर वह बना कैसे। किन्तु, मकान का जो पचास या सौ साल पुराना होता है, इतिहास पता करना तो साधारणतया आसान होता है, पर पृथ्वी का, जो कई अरब वर्ष पुरानी है, इतिहास मालूम कर पाना बिल्कुल अलग चीज़ है। उदाहरण के लिए, हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमें यह मालूम नहीं कि पृथ्वी किस प्रकार बनी। इस सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए है, पर उनमें अनिवार्यतः अनुमान का बहुत-सा अंश मिला हुआ है।

हम प्रकाश और ऊष्मा के लिए पूर्णतया सूर्य पर आश्रित हैं। सूर्य अपने आप में पृथ्वी से बिलकुल भिन्न प्रकार का है; वह कोई ठोस पिंड नहीं है, अपितु वह बहुत ही गर्म गैस से बना हुआ है (बाहरी तल का तापमान ५००० डिग्री सैंटीग्रेट से भी अधिक है) और वह हमारी अपनी पृथ्वी से कहीं अधिक बड़ा है। सूर्य के अन्दर दस लाख से भी अधिक पृथ्वियां समा सकती हैं और उसके बाद भी उसमें खाली जगह

बची रहेगी। कुल मिलाकर हमारे सूर्य के नौ ग्रह हैं—सूर्य से दूरी की दृष्टि से इनमें पृथ्वी का स्थान तीसरे नम्बर पर है—और अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध फ्रांसीसी खगोलवेत्ता पियरे लाप्लास ने यह कल्पना की थी कि वे सब ग्रह वस्तुतः स्वयं सूर्य में से ही बने हैं। लाप्लास इस सुझाव को प्रस्तुत करनेवाला तो पहला व्यक्ति नहीं था, किन्तु इस सिद्धान्त को विस्तृत और विशद रूप में प्रस्तुत करनेवाला वह पहला व्यक्ति अवश्य था।

लाप्लास के मतानुसार, इस ग्रह-मंडल का आरम्भ केवल एक विशाल गैस के बादल से हुआ; यह बादल धीरे-धीरे गोल घूम रहा था और अपने ही गुरुत्वाकर्षण के खिचाव से सिकुड़ता जाता था। ज्यों-ज्यों वह बादल सिकुड़ता गया, त्यों-त्यों उसके घूमने की चाल तेज़ और तेज़ होती गई और अन्त में उसने गैस का एक 'वलय' (घेरा) बाहर की ओर फेंक दिया, जो बाद में इकट्ठा होकर एक ग्रह बन गया। क्योंकि मुख्य पिंड का सिकुड़ना और घूमना जारी रहा, इसलिए कुछ समय बाद उसने गैस का एक और 'वलय' बाहर की ओर फेंका, और यह प्रक्रिया कई बार दोहराई गई और इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि केन्द्र में तो एक अपेक्षाकृत छोटा-सा सूर्य रह गया और उसके चारों ओर ग्रहों का एक परिवार बन गया।

लाप्लास का यह सिद्धान्त, जो लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, कुछ समय तक आमतौर से स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु दुर्भाग्य से अब यह सिद्ध हो गया है कि यदि गैस के वलय इस प्रकार बाहर की ओर फेंके भी गये हों, तो वे

कभी भी जमकर ग्रह नहीं बन सकते थे—गैस आकाश में इधर-उधर उड़कर ही बिखर जाती। इसके बाद, जब कई अन्य सूझें प्रस्तुत की जा चुकीं और अस्वीकृत भी कर दी गईं, तब एक ब्रिटिश खगोलवेत्ता, सर जेम्स जीन्स ने, जिन्हें उनकी लोकप्रिय पुस्तकों और रेडियो-वार्ताओं के लिए बहुत समय तक स्मरण रखा जायेगा, एक 'ज्वरीय सिद्धान्त' प्रस्तुत किया, जो कहीं अधिक आशाजनक प्रतीत होता था।

हमें मालूम है कि सूर्य एक साधारण तारा है, जो हमें रात में दिखाई पड़ने वाले तारों में से अधिकांश से अधिक चमकीला नहीं है; यह इतना दीप्तिमान केवल इसलिए दिखाई पड़ता है कि और तारों की तुलना में यह हमारे निकट है। आकाश (व्योम) इतना बड़ा है कि ऐसी घटना कभी विरले ही घटित होती है कि कोई एक तारा किसी अन्य तारे के पास पहुँच जाये; परन्तु जीन्स का कहना था कि बहुत ही सुदूर अतीत में, कई अरब वर्ष पहले इस प्रकार की घटना अवश्य घटित हुई और एक अन्य तारा सूर्य के पास से होकर गुज़रा। इन दो पिंडों के मध्य गुरुत्वाकर्षण के खिचाव के कारण सूर्य में से पदार्थ (भौतिक तत्त्व) की एक सिगार-आकृति जीभ-सी बाहर की ओर निकल आई और जब वह दूसरा तारा दूर जाने लगा, तब यह पदार्थ से बनी जीभ बड़ी-बड़ी बूँदों के रूप में टूट पड़ी और उनमें से प्रत्येक बूँद जमकर एक ग्रह के रूप में बदल गई। यह जानना मनोरंजक होगा कि सौर-परिवार के सबसे विशाल ग्रह, बृहस्पति और शनि, इस ग्रह-मण्डल के लगभग मध्य में हैं, ठीक उस जगह, जहाँ कि उस 'सिगार' का सबसे मोटा भाग रहा होगा।

यह सब सुनने में बिल्कुल सीधा-सादा जान पड़ता है, परन्तु एक बार फिर अड़चन हमारे सामने आ खड़ी होती है। अनेक गणितीय कठिनाइयों के कारण सर हैरल्ड जैफ़रीज़ का मत यह बना कि वह गुज़रता हुआ तारा सूर्य के केवल पास से नहीं गुज़रा, अपितु उसने दूर हटना शुरू करने से पहले सूर्य को वस्तुतः एक पार्श्व से टक्कर भी मारी। इस सिद्धान्त से कुछ ऐतराज़ तो दूर हो गये, परन्तु ज्वार-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों में एक घातक कमज़ोरी है और उसका सम्बन्ध पृथ्वी के साथ नहीं, अपितु स्वयं सूर्य के साथ है।

सूर्य अपने बाहरी तल पर भी गर्म है, किन्तु उसके पिंड में अन्दर की ओर नीचे गर्मी बहुत ही भीषण है; केन्द्र में उसका तापमान कोई दो करोड़ डिग्री सेंटिग्रेड होगा। अत्यधिक गर्म निचली परतें केवल उनके ऊपर की सामिग्री के दबाव से अपने स्थान पर बनी रहती हैं। यदि पास गुज़रता हुआ कोई तारा बाहर के पदार्थ में से कुछ भाग को तोड़कर अलग कर देता, तो नीचे वाली गर्म परतें तेज़ी से फैलतीं और इसके फलस्वरूप इतना भीषण विस्फोट हुआ होता कि उसकी तुलना में परमाणु बम बच्चों के खेल का पटाखा-सा जान पड़ता। वह सामग्री आकाश में इतनी तेज़ी से बाहर की ओर उड़ती कि वह जमकर ग्रह बन ही नहीं सकती थी। इस कठिनाई को हल करने का कोई उपाय नहीं है और इसलिए हमें ज्वार सम्बन्धी सब सिद्धान्तों को, जीन्स के सिद्धान्त समेत, अस्वीकार ही करना पड़ेगा।

आजकल के एक ब्रिटिश खगोलवेत्ता, होयल, ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि ग्रह स्वयं सूर्य से नहीं बने, अपितु एक अन्य

तारे से बने हैं, जो सूर्य के साथ-साथ अकाश में यात्रा किया करता था, परन्तु जो बाद में फटकर समाप्त हो गया। तारों के इस प्रकार के विस्फोट, जिन्हें खगोलवेत्ता 'अधिनवतारा' (सुपरनोवा) कहते हैं, जब तब होते रहते हैं, और कोई कारण नहीं कि अपने आरम्भिक जीवन में सूर्य का कोई साथी तारा क्यों न रहा हो; परन्तु दुर्भाग्य से होयल के सिद्धान्त को सिद्ध कर पाना या खंडित कर पाना असम्भव है ; यह एक रोचक सम्भावना मात्र बना हुआ है।

आजकल सबसे अधिक ठीक माना जाने वाला सिद्धान्त वह है, जिसका श्रेय एक जर्मन वैज्ञानिक कार्ल वान वाइज़-सैकर को है। वान वाइजसैकर का मत है कि एक बार सूर्य हल्की गैस के एक विशाल बादल में से होकर गुज़रा और उसमें से गुज़रते समय उसने एक विस्तृत गैसीय 'आवरण' अपने आस-पास समेट लिया। जब सूर्य उस बादल में से बाहर निकल आया, तब गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के फलस्वरूप उस सामग्री के कुछ ऐसे 'गुच्छे' से बन गये, कि धीरे-धीरे वह पदार्थ कुछ थोड़े से गोलकों, ग्रहों, के रूप में संचित हो गया। यहाँ भी इस सिद्धान्त के पक्ष या विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं है, परन्तु वाइज़सैकर के सिद्धान्त में कोई स्पष्ट दीख पड़ने वाली कमज़ोर कड़ी नहीं है और गैस के बादल आकाश में आम तौर से पाये जाते हैं।

पृथ्वी चाहे कैसे भी क्यों न बनी हो, किन्तु यह निश्चित है कि एक पृथक् पिंड के रूप में अपने आरम्भिक दिनों में यह बहुत गर्म थी और सम्भाव्यतः गैस रूप में थी। ठंडी होने के साथ यह तरल अवस्था में से गुजरी हो सकती है; परन्तु अन्त

में इसकी पपड़ी जमकर ठोस होने लगी और आखिरकार हम उस बिन्दु पर आ पहुँचते हैं, जहाँ खगोलवेत्ता इस कहानी का सूत्र भू-वैज्ञानिक को थमा सकता है। यह बिन्दु अब से कोई दो अरब वर्ष पहले के काल का है। सम्भाव्यतः पृथ्वी इससे और एक अरब वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। इस प्रकार हमारे इस ग्रह, पृथ्वी की अब तक की कुल आयु लगभग तीन अरब वर्ष बैठती है।

पृथ्वी की आयु की यह संख्या भू-वैज्ञानिक तथा खगोल वैज्ञानिक, दोनों ही प्रकार की कई पद्धतियों से जाँच करके निकाली गई है। यह एक बहुत ही आकर्षक जासूसी समस्या जैसी है और यह हो सकता है कि हमारा अनुमान सही से ५० करोड़ वर्ष कम हो या अधिक हो, किन्तु हमें कम-से-कम इतना तो निश्चय है कि हम सही रास्ते पर हैं। इस विषय में मुख्य सूत्र हमें यूरेनियम नाम के पदार्थ के स्वभाव से मिला है। यूरेनियम पृथ्वी की पपड़ी में दुर्लभ नहीं है—यह हाल ही में परमाणु बमों में प्रयुक्त होने के कारण बहुत प्रसिद्धि पा गया है—और यह हल्का-सा 'रेडियो-ऐक्टिव' (विकिरण शील) है, जिसका अर्थ है कि यह धीरे-धीरे क्षय होकर अन्य पदार्थों के रूप में बदलता रहता है और अन्त में सीसा बन जाता है। इसके क्षय होने की चाल एक-सी रहती प्रतीत होती है और उस पर तापमान, दबाव या अन्य किसी भी वस्तु का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए यदि कहीं हमें सीसा और यूरेनियम साथ-साथ एक ही जगह मिल जाते हैं, तो सीसे के अनुपात से हमें यह पता चल जाता है कि यूरेनियम का क्षय होने की यह प्रक्रिया कितने समय से चल रही थी। यूरेनियम जितना

ही अधिक पुराना होगा, उसके पास उतना ही अधिक सीसा प्राप्त होगा। सौभाग्य से, यूरेनियम के क्षय से बना सीसा ठीक मामूली सीसे जैसा नहीं होता।

बहुत ही प्राचीन शैलों (चट्टानों) में मिले यूरेनियम की आयु लगभग १७० करोड़ वर्ष निकली है और यही आयु उन शैलों की भी होनी चाहिए, जिनमें वह यूरेनियम मिला है। यह सूत्र विश्वसनीय है—उतना ही विश्वसनीय, जितनी की मनुष्य की अंगुलियों की छाप होती है—और अनुसन्धान की अपेक्षाकृत कुछ कम सुनिश्चित पद्धतियों से भी इन शैलों की आयु लगभग इतनी ही निकलती है।

१७० करोड़ वर्ष! 'बहुत लम्बे समय' की हमारी सामान्य धारणा भू-वैज्ञानिक या खगोलवेत्ता की धारणा से बहुत भिन्न होती है। विश्व के समय-मान के हिसाब से हेस्टिंग्स की लड़ाई एक बहुत ही हाल की घटना है। हमारे मस्तिष्क करोड़ों वर्षों की अवधियों को वस्तुतः ठीक-ठीक समझ नहीं सकते, परन्तु उनको अपने सम्मुख चित्रित-सा कर लेने का एक अच्छा तरीका यह है कि उनको "छोटे मान(पैमाने)में उतार" लिया जाये। कल्पना कीजिये कि हम पृथ्वी के अब तक के सारे जीवन काल को २४ घन्टों के बराबर मान लेते हैं। इस मान के हिसाब से, सर्व प्रथम जीवित वस्तुएं केवल लगभग बारह घंटे पहले प्रकट हुई थीं और हैस्टिंग्स की लड़ाई अब लगभग एक सैकंड पहले हुई थी, जब की सभ्य मानव की सारी की सारी कहानी केवल कुछ थोड़े से मिनटों में समा सकती है। ब्रह्मांड में हर बात धीरे-धीरे और शान के साथ होती है। केवल मनुष्य ही ऐसा है, जो सदा हबड़-धबड़ में रहता है।

हमने पृथ्वी के आरम्भ के विषय में जितना ज्ञान प्राप्त किया है, उससे, कुल मिलाकर, हमें असन्तुष्ट रहने का कोई कारण नहीं है। हमें यह पता है कि यह आरम्भ कब हुआ, भले ही हमें यह मालूम न हो कि यह आरम्भ ठीक किस प्रकार हुआ; और ज्यों ही हम उस काल तक आ पहुँचते हैं; जहां भू-वैज्ञानिक और जीवाश्म-वैज्ञानिक पृथ्वी की पपड़ी पर से विश्वसनीय जानकारी का संचय शुरू कर सकते हैं, त्यों ही हम शब्दशः "पक्की ज़मीन" पर पहुँच जाते हैं। लेकिन, हम सबसे पहले, पृथ्वी के उस रूप पर ज़रा निकट से एक दृष्टि डाल लें, जो उसके भली भांति ठंडा होने से पहले रहा था और जब वह आकाश में घूमते हुए लाल-गर्म पिघले हुए पदार्थ (भौतिक तत्त्व) के एक गोलक से अधिक कुछ भी नहीं थी।

द्वितीय अध्याय

ठंडी होती हुई दुनिया

यदि हम कड़ाही में से ताज़ा गरम हलवा निकालकर एक तश्तरी में रख दें, तो वह ठंडा होना शुरू हो जायगा। कुछ ही देर में उसका बाहरी भाग बिल्कुल ठंडा हो चुकेगा, किन्तु यदि हम उसे एक चाकू से बीच में से चीरें, तो हम देखेंगे कि उसका भीतरी भाग अभी तक भी गर्म है। इसी प्रकार पिघली हुई पृथ्वी की पहले बाहरी सतह ठंडी होनी शुरू हुई और करोड़ों वर्ष बीत जाने के बाद एक ठोस पपड़ी बनने लगी, हालांकि भूमंडल का केन्द्र भाग उस समय तक भी गर्म था। क्योंकि प्राचीनतम शैल १७० करोड़ वर्ष पुराने हैं, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी की पपड़ी अब से २०० करोड़ और ३०० करोड़ वर्ष पहले के बीच में किसी समय बनी होगी।

आजकल पृथ्वी की सतह अनेक विभिन्न पदार्थों से बनी हुई है। इसमें विभिन्न प्रकार की चट्टानें, मिट्टियां, जल, और कार्बनिक पदार्थ के विशाल ढेर—जैसे कि पत्थर का कोयला, जो वनस्पतियों के सड़ने और दब जाने से बना है—विद्यमान हैं। परन्तु पहले पहल ये सब पदार्थ इन रूपों में विद्यमान नहीं थे। पृथ्वी का सारा का सारा गोला एक जैसा था और वह एक ज्वालामुखीय सामग्री से, जिसे 'मैग्मा' (शैलमूल) कहा जाता है, बना हुआ था। यह मैग्मा पृथ्वी की सतह के

नीचे अब भी विद्यमान है और यह वैस्यूवियस जैसे सक्रिय ज्वालामुखियों में से निकले 'लावे' से बहुत मिलता-जुलता होता है। उस समय 'वायु' भी आजकल की वायु जैसी बिल्कुल ही नहीं थी और यह बहुत सम्भाव्य है कि कुछ समय तक, शायद पपड़ी के ठोस होने से पहले, पृथ्वी पर किसी प्रकार की वायु बिल्कुल थी ही नहीं। शुरू-शुरू का वायुमंडल, जो अधिकांशतः हाइड्रोजन गैस से बना हुआ था, यों ही आकाश में फैलकर उड़ गया।

हाइड्रोजन, जिसका उपयोग वायु-पोतों और गुब्बारों को भरने के लिए किया जाता था (बाद में उसके स्थान पर हीलियम का प्रयोग किया जाने लगा, जो ऊपर उठने की दृष्टि से तो हाइड्रोजन जितनी बढ़िया नहीं है, किन्तु यह ज्वलनशील नहीं है), इस ब्रह्मांड में सबसे प्रचुर मात्रा में पाया जानेवाला पदार्थ है और सूर्य तथा तारे अधिकांशतः इसी से बने हुए हैं। बृहस्पति और शनि जैसे विशाल ग्रहों के वायुमंडल मुख्यतया हाइड्रोजन से और हाइड्रोजन यौगिकों (समासों) से बने हुए हैं। दूसरी ओर, पृथ्वी, जो अपेक्षाकृत बहुत छोटा-सा पिंड है, हाइड्रोजन को अपने पास थामे नहीं रह सकती थी, क्योंकि हमारी पृथ्वी का पलायनवेग (ऐस्केप विलौसिटी) अपेक्षाकृत कम था।

यदि मैं एक पत्थर ऊपर की ओर फेंकूँ, तो वह कुछ ऊँचाई तक ऊपर जायेगा और उसके बाद फिर मेरे हाथ पर आ गिरेगा। यदि मैं उस पत्थर को और अधिक प्रस्थान-वेग दे दूँ, तो वह पहले की अपेक्षा अधिक ऊपर तक जायेगा और उसके बाद नीचे गिरेगा। यदि मैं उस पत्थर को एक सैकंड

में सात मील के वेग से फेंक सकूँ, तो वह पृथ्वी पर कभी वापस आयेगा ही नहीं। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण का खिचाव इतना प्रबल नहीं होगा कि वह उसे रोक सके और वह पत्थर आकाश में चला जायेगा और फिर कभी वापस न गिरेगा। इस प्रकार सात मील प्रति सैकंड के इस संक्रान्तिक मान को पृथ्वी का पलायनवेग कहा जाता है।

कोई भी वायु-मंडल, चाहे वह किसी भी गैस से क्यों न बना हो, असंख्य करोड़ों परमाणु-समूहों या 'अणुओं' (मौलिक्यूल) से बना होता है और ये सब अणु बड़ी गति से इधर-उधर उड़ रहे होते हैं। हाइड्रोजन के अणु, जो सब अणुओं से हल्के होते हैं, सबसे अधिक तेज़ी से गति करते हैं और पृथ्वी के आरम्भिक दिनों में प्रचंड गर्मी उन्हें साधारण की अपेक्षा भी अधिक तेज़ी से उड़ाती होगी। इसके फलस्वरूप, वे एक सैकंड में सात मील से भी अधिक गति करने में समर्थ थे और उड़कर आकाश में निकल जाते थे और पृथ्वी वायुमंडल के आवरण से बिल्कुल ही रहित हो जाती थी।

समय बीता। पृथ्वी ठंडी हुई, ठीक वैसे ही, जैसे तश्तरी में रखा हुआ हलवा होता है और अन्त में एक पपड़ी बननी शुरू हुई। करोड़ों वर्ष बीतने पर यह पपड़ी मोटी हो गई और ठोस बन गई और गर्मी निरन्तर कम होती गई। अन्त में बड़े उत्पात हुए। सतह पर बड़े-बड़े ज्वालामुखी फटने लगे और फटते समय उन्होंने विशाल मात्रा में उस गैस को मुक्त कर दिया, जो पृथ्वी के उस समय भी पिघले हुए अभ्यन्तर में बन्द थी। इस बार जो गैस बाहर निकली, वह हाइड्रोजन नहीं, अपितु कार्बन डाइयॉक्साइड (वह भारी गैस, जो सोडा

वाटर में घुली रहती है) और पानी की भाप थी। क्योंकि अब पृथ्वी की गर्मी पहले की अपेक्षा कुछ कम प्रचंड थी, और यह नई 'वायु' अपेक्षाकृत मन्दगतिवाले अणुओं से बनी थी, इसलिए यह पृथ्वी से भागकर नहीं जा सकी। यह वायुमंडल पृथ्वी पर रह गया, और यद्यपि इसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, पर वस्तुतः यही वह वायुमंडल है, जिसमें आज हम सांस लेते हैं।

उस समय तक महासागर नहीं थे। शुरू-शुरू के भू-दृश्य गर्म थे, पर्वतीय और बंजर थे, और उस समय किसी प्रकार का भी जीवन पृथ्वी पर नहीं था। बड़े-बड़े ज्वालामुखी पर्वत गरजते थे और उनमें से निकली भाप ने संघनित होकर मोटे बादलों का रूप धारण कर लिया, जो पृथ्वी की सतह को ढककर उसे सूर्य की तेज़ चमक से बचाते थे। 'वर्षा' ज्यों ही पृथ्वी पर गिरने का यत्न करती थी, त्यों ही वह तुरन्त फिर भाप बन जाती थी और उन दिनों पृथ्वी सचमुच ही एक मनहूस और डरावना स्थान रही होगी।

अन्त में पृथ्वी की पपड़ी इतनी काफी ठंडी हो गई कि बादलों में भरा हुआ पानी मुक्त होकर पृथ्वी पर गिर सके और तब वे वर्षाएँ शुरू हुईं, जिन्हें उचित रूप से 'महावृष्टि' नाम दिया गया है। वे वर्षाएँ आजकल के प्रचंड तूफान की अपेक्षा भी कहीं अधिक ज़ोरदार होती थीं और कहीं अधिक देर तक होती रहती थीं; वे बिना रुके कई दिनों तक महीनों तक, शताब्दियों तक—शायद सैकड़ों शताब्दियों तक होती रहीं। पानी पृथ्वी के निचले भागों में भर गया और धीरे-धीरे ये बेसिन भर चले। महासागरों का जन्म होने लगा।

ज्यों ही ये जल पर्याप्त गहरे हुए, त्यों ही उन्होंने अपने छोर पर खड़े स्थल भाग के किनारों को काटना शुरू कर दिया और स्थल तथा जल का अन्तहीन संग्राम शुरू हो गया—यह संग्राम ठीक इस समय तक भी जारी है। अन्त में, उन घने बादलों की इतनी अधिक वाष्प समाप्त हो गई कि वे फट गये और 'महावृष्टि' वन्द हो गई और सूर्य उस पृथ्वी पर चमकने लगा, जो जीवन को ग्रहण करने के लिए तैयार हो रही थी।

पृथ्वी के आरम्भिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण बात चन्द्रमा की समीपता थी। आजकल चन्द्रमा, जो दो हज़ार मील से कुछ अधिक व्यास वाली एक दुनिया है और जिसकी ऊबड़-खाबड़ सतह हज़ारों ज्वालामुखियों के मुख-गर्तों से क्षत-विक्षत पड़ी है, पृथ्वी से ढाई लाख मील दूर है—पृथ्वी की भूमध्यरेखा के चारों ओर एक चक्कर लगाने की जितनी दूरी होती है, उससे केवल दस गुना दूर। लेकिन किसी समय यह अवश्य ही अब की अपेक्षा पृथ्वी के कहीं अधिक निकट रहा होगा और अभी काफी हाल तक यह माना जाता था कि शुरू-शुरू में चन्द्रमा और पृथ्वी एक ही पिंड थे।

लगभग एक शताब्दी पहले प्रोफेसर जी० एच० डार्विन ने, जो प्रसिद्ध प्रकृतिवैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन का पुत्र था, चन्द्रमा की उत्पत्ति के विषय में एक मत प्रस्तुत किया, जिसे वैज्ञानिक लोग अनेक वर्षों तक मानते रहे। डार्विन का विचार यह था कि जिस समय पृथ्वी इतनी शीतल हो चुकी थी कि उस पर एक पतली-सी पपड़ी जम सके, लगभग उसी समय यह समूचा भूमंडल केवल इस कारण अस्थिर हो उठा, कि यह अपनी धुरी पर बहुत तीव्र वेग से घूम रहा था। आज कल पृथ्वी को अपने

अक्ष (धुरी) पर एक बार घूमने में २४ घंटे लगते हैं, किन्तु महा-वृष्टि से पहले और महावृष्टि की अवधि में 'दिन' की लम्बाई कुछ थोड़े से घंटों से अधिक नहीं हो सकती। डार्विन का विचार था कि इस तेज़ी से घूमने का और सूर्य के ज्वारीय खिंचाव का मिल-जुल कर प्रभाव यह हुआ कि पृथ्वी पहले तो अंडाकृति बन गई और उसके बाद उसकी आकृति डम्बल की सी हो गई, जिसमें एक गोला (स्वंय पृथ्वी) बड़ा था और दूसरा गोला (भावी चन्द्रमा) छोटा था। अन्त में इस डम्बल की गर्दन बिल्कुल टूट ही गई और दोनों गोले अलग-अलग हो गये। चन्द्रमा पृथ्वी से एक तरल पिंड के रूप में परे जा पड़ा।

अन्य वैज्ञानिक और आगे बढ़े और उन्होंने कहा कि इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की पतली पपड़ी बीच में से फटकर अलग हो गई होगी और उसमें उस जगह, जहाँ से वह पिंड टूटकर अलग हुआ था, एक बहुत बड़ा गड्ढा हो गया होगा। क्योंकि चन्द्रमा लगभग ठीक उतना बड़ा है कि वह अतलान्तक महासागर के इस छोर से उस छोर तक समा सके और अमेरिका के पश्चिमी समुद्र तट यूरोप और अफ्रीका के पूर्वी समुद्र-तटों के साथ ठीक मेल खा जाते हैं, इसलिए यह मान लिया गया कि वस्तुतः अतलान्तक ही वह गड्ढा है, जो चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने से बना था। एक और मत यह है कि प्रशान्त महासागर वह असली गड्ढा है। इस पिछले मत का समर्थन इस तथ्य से भी होता था कि प्रशान्त महासागर की तली ऐसी सामग्री से बनी है, जो अन्य किसी भी महासागर की तली में पाई जाने वाली सामग्री से भिन्न है।

चन्द्रमा के पृथ्वी से 'टूट कर बनने' के सिद्धान्त का अब भी कुछ वैज्ञानिक समर्थन करते हैं, जिनमें अमेरिका के प्रोफेसर जार्ज गैलो और स्वीडन के एन० ओ० बर्गक्विस्ट उल्लेखनीय हैं। दुर्भाग्य से, इस सिद्धान्त के विषय में कई गम्भीर एतराज़ हैं, और आधुनिक मत यह है कि चन्द्रमा पृथ्वी से अलग, स्वतंत्र रूप से बना और बहुत कुछ उसी प्रकार बना जिस प्रकार पृथ्वी बनी थी। लेकिन जब चन्द्रमा का एक पृथक् पिंड के रूप में अस्तित्व शुरू हुआ, तब यह पृथ्वी के काफी पास था और महावृष्टि के दिनों में चन्द्रमा की पृथ्वी से दूरी अपेक्षाकृत कम थी। इसका अर्थ यह है कि तब यह समुद्र में और स्थल के जलाशयों में बड़े-बड़े ज्वार उठाता था, जो आजकल हमारे अनुभव में आनेवाले किन्हीं भी ज्वारों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचंड होते थे।

महावृष्टि की समाप्ति के समय चन्द्रमा की पृथ्वी से दूरी शायद ५०,००० मील थी। ठीक-ठीक दूरी तो स्पष्टतः अनिश्चित है और हम उसका केवल अनुमान ही कर सकते हैं। और पृथ्वी अपने अक्ष पर एक चक्कर शायद १० से १२ घंटे तक में पूरा कर लेती थी। चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण के खिचाव की प्रवृति यह थी कि पदार्थ के ढेर को चन्द्रमा की दिशा में ऊपर की ओर खींचे और जब पृथ्वी घूमती थी, तब उसे इस ढेर को स्थिर रखने के लिए, चन्द्रमा के प्रयत्नों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप, पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने की चाल कम होती गई और 'दिन' लम्बा होता गया। इस समय तक भी, जब पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने की अवधि बढ़ कर २४ घंटे हो गई है और स्थल के जलाशयों

में ज्वार बहुत हल्के आते हैं, महासागरों के जल पर चन्द्रमा का खिंचाव बना ही हुआ है। यह बात विचित्र भले ही प्रतीत हो, किन्तु दिन अब भी लम्बे और लम्बे होते जा रहे हैं। इस वृद्धि की चाल बहुत कम है, और यह हर १,००,००० वर्षों में लगभग एक सैकंड बैठती है; परन्तु अब से ५,००० करोड़ वर्ष बाद, यदि चन्द्रमा और पृथ्वी तब तक रहे तो, इन दो पिंडों के बीच की दूरी बढ़ कर ३,४०,००० मील हो चुकेगी और दिन अब की अपेक्षा ४७ गुना बड़ा हो जायेगा।

अब से पचास करोड़ वर्ष पहले भी, लगभग उस समय, जब हमें ज्ञात सर्व प्रथम जीवित प्राणी समुद्रों में प्रकट हुए, आजकल की दृष्टि से देखा जाये तो पृथ्वी एक बहुत ही विचित्र स्थान थी। एक बात तो यह कि महासागर न केवल गर्म थे, अपितु आजकल की अपेक्षा खारे भी बहुत कम थे। समुद्र के पानी में जो नमक है, उसका अधिकांश स्थल से ही वहां पहुंचा है। बात यह है कि जलधाराएँ महाद्वीपों की मिट्टी को काटती रहती हैं और उसे बहा कर महासागरों की गहराईयों में ले जाती हैं। बाकी सामग्री नीचे बैठ जाती है और नमक पानी में घुला रह जाता है। किन्तु स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया बहुत ही धीरे-धीर होने वाली है। उस सुदूर प्राचीन काल में वायु भी आजकल की वायु से भिन्न थी। उस में कार्बन डाइऑक्साइड गैस बहुत थी, जो यद्यपि वस्तुतः विषैली तो नहीं है, किन्तु पशु या मनुष्य उसमें सांस नहीं ले सकते। पौधे अवश्य कार्बन डाइऑक्साइड को ग्रहण करते हैं। वे उसे फाड़ देते हैं और उसके बदले में खाली आक्सीजन छोड़ते हैं। इस प्रकार आधुनिक संसार में

एक नियमित चक्र चल रहा है—मनुष्य और पशु आक्सिजन ग्रहण करते हैं और कार्बन डाइऔक्साइड छोड़ते हैं और पौधे इसका ठीक विलोम करते हैं। इस प्रकार वायुमंडल में आक्सजनी का अनुपात एक-सा बना रहता है। परन्तु पचास करोड़ वर्ष पहले स्थल पर उगने वाले पौधे थे ही नहीं। महाद्वीप उस समय भी बंजर-उजाड़, चट्टानों और ज्वालामुखी पर्वतों से भरे थे, इसलिए अत्यधिक कार्बन डाइऔक्साइड को हटाने का कोई उपाय नहीं था।

अन्त में, जब जीवन का आरम्भ हुआ, तब वह समुद्र में हुआ। इसका कारण यह था कि महासागर इतने अधिक प्रतिकूल न थे कि उनमें जीवन पनप ही न सकता, किन्तु स्थल भाग उस समय तक भी जीवित प्राणियों के रहने के अयोग्य थे। प्रकृति की महान कथा शुरू होनेवाली थी, जिसका आरम्भ छोटे-छोटे समुद्री जीव-जन्तुओं से हुआ और जिसका अन्त उसकी सबसे महान पार्थिव सृष्टि, मानव, से होना था।

अध्याय तीन

शैलों का अभिलेख

जब हम किसी 'शैल' (शिला) का विचार करते हैं, तब हमारे सम्मुख पदार्थ के एक कठोर, अनम्य (लचकहीन) पिंड का, जैसे ग्रेनाइट या चूने के पत्थर का, चित्र उपस्थित हो जाता है। परन्तु भू-वैज्ञानिक इस शब्द का प्रयोग कुछ अधिक विस्तृत अर्थ में करते हैं और यद्यपि यह सही है कि ग्रेनाइट और चूने के पत्थर 'शैल' हैं, परन्तु यह भी सही है कि चिकनी मिट्टी भी एक शैल है। मोटेतौर पर, पृथ्वी की पपड़ी में सबसे अधिक आमतौर से पाये जाने वाले तत्व आक्सीजन और सिलिकौन हैं—८० प्रतिशत से भी अधिक शैलीय सामग्री का निर्माण इन दोनों से होता है, किन्तु क्योंकि ये शैल पृथ्वी के अतीत इतिहास का उद्घाटन करने में हमें सबसे सुदृढ़ सूत्र प्रदान करते हैं , इससिए उनकी चर्चा पर थोड़ा सा समय व्यय करना उचित ही होगा। तुरन्त ही हमें दिखाई पड़ता है कि उन्हें तीन मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है।

पहले तो आग्नेय शैल हैं। आग्नेय शब्द 'अग्नि' (लेटिन शब्द इग्निस) से बना है, जिसका अर्थ आग है। आग्नेय शैल जैसा कि उनके नाम से ही पता चलता है, ज्वालामुखीय होते हैं। वे वस्तुतः 'मैग्मा' के ठंडा होने के फलस्वरूप बनते हैं और सामान्यतया उनमें उनके पहले के ऊंचे तापमान के

स्पष्ट चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जिनसे पता चलता है कि पृथ्वी के आरम्भिक दिनों में शैलों के रूप में प्रकट होने वाले ये सर्वप्रथम शैल थे। बैसाल्ट एक प्रारूपिक आग्नेय शैल है।

दूसरे, 'तलछटी' शैल होते हैं, जो प्राकृतिक साधनों, जैसे पवन और जल द्वारा घिसाई से आग्नेय शैलों के टूटने से बनते हैं। छोटे-छोटे दाने या कण वह-वह कर जाते रहते हैं और वे 'तलछट' के रूप में जमा होते जाते है। जब यह सामग्री समुद्र में जाती है, तब उसमें विद्यमान लवण तो पानी में घोल के रूप में रहते हैं, किन्तु न घुलने वाले अंश, जैसे रेत और रोड़ी, स्वभावत: महासागर की तली में बैठते जाते हैं और इस प्रकार तलछटी शैलों की मोटी-मोटी परतें बन जाती हैं। इसके उपलक्षक उदाहरग चिकनी मिट्टी और बालुकाश्म (बलुआ पत्थर) हैं।

अन्त में, एक अन्य प्रकार के शैल होते हैं, जो कायान्तरित (मैटामौर्फिक) कहलाते हैं। 'मैटामौर्फिक' शब्द एक पुराने शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'परिवर्तन'। यह बात सुविदित है कि ऊष्मा और दबाव किसी पदार्थ को इतना पूर्ण रूप से बदल दे सकते हैं कि फिर उसे पुराने रूप में पहचाना ही नहीं जाता; उदाहरण के लिए, चिकनी मिट्टी से ईंटें इसी प्रकार तैयार की जाती हैं। जब आग्नेय या तलछटी शैलों को बहुत ऊष्मा या दबाव, या दोनों को सहना पड़ता है, तब वे बहुत अधिक परिवर्तित होकर कायान्तरित (मैटामौर्फिक) शैल बन जाते हैं, जैसे कि वह पत्र की (पतरीदार) पदार्थ, जिसे 'शिस्ट' कहा जाता है।

यहाँ पर दो और पारिभाषिक शब्दों का परिचय करा

देना उचित होगा, क्योंकि उन दोनों का भू-वैज्ञानिक बहुत अधिक प्रयोग करते है। ग्रेनाइट और बैसाल्ट दोनों में, जो दोनों ही आग्नेय शैल हैं, काफी मात्रा में सिलिकौन होता है (जो मामूली बालू के मुख्य घटकों में से भी एक है), किन्तु ग्रेनाइट में कुछ थोड़ी सी मात्रा ऐल्युमिनियम की भी होती है, जबकि बैसाल्ट में ऐल्युमिनियम तो नहीं होता, किन्तु उसके बजाय मैग्नेशियम होता है। पृथ्वी की पपड़ी को इस रूप में सोचा जा सकता है कि यह परतों की एक शृंखला से बनी हुई है; एक निचली परत बैसाल्टीय पदार्थ की बनी है, जिसे 'सिमे' (सिलिकौन, मैग्नेशियम) कहा जाता है, और उसके ऊपर एक कुछ कम नियमित परत 'सिऐल' (सिलिकौन, ऐल्युमिनियम) की पड़ी हुई है। स्थल भाग मुख्यतया सिऐल से बने हुए हैं। यह समझा जाता है कि किसी समय सिऐल सारी पृथ्वी के ऊपर जमा हुआ था, परन्तु पृथ्वी के ठंडा होने की अवधि के अन्त के दिनों में वह अनियमित पिंडों में खंडित हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे बड़े महासागर, प्रशान्त में सिऐल की परत बिल्कुल है ही नहीं। अभी हाल के दिनों तक यह माना जाता था कि इसका कारण चन्द्रमा का पृथ्वी से टूट कर अलग होना था; चन्द्रमा पृथ्वी से कम घना है और हो सकता है कि वह अधिकांशतः सिऐलीय हो; परन्तु क्योंकि अब हमें इस विषय में काफी कुछ पक्का निश्चय हो गया है कि पृथ्वी और चन्द्रमा कभी भी एक नहीं थे, इसलिए प्रशान्त महासार के जल के नीचे सिऐल के अभाव की कोई अन्य व्याख्या खोजनी पड़ेगी।

अपने आप में कोई शैल, यदि उसके अन्दर कोई विशेष

पदार्थ, जैसा कि यूरेनियम है, न हो तो, अपनी आयु के विषय में कम ही सुराग देता है। सौभाग्य से इन शैलों में बहुधा उन प्राणियों के, जो किसी समय जीवित रहे थे, अवशेष या प्रस्तरीभूत अवशेष (फॉसिल) होते हैं और इन फॉसिलों के अध्ययन से भू-वैज्ञानिक अतीत काल का सही सही इतिहास गढ़ पाने में समर्थ हुए हैं। यह कहना अनावश्यक है कि कोई व्यक्ति यह आशा नहीं कर सकता कि वह करोड़ों वर्ष पुराने किसी शैल को तोड़े, तो उसके अन्दर कोई समूचा पशु या पौधा प्राप्त हो जाये। मांस तथा अन्य कोमल पदार्थ सड़-गल जाते हैं और केवल अस्थि-पंजर ही शेष बच जाते हैं। परन्तु इससे फॉसिलों के अध्ययन, या जीवाश्म विज्ञान में कोई विशेष असुविधा नहीं होती। फॉसिलों को तीन मुख्य प्रकारों में बांट लिया गया है—वास्तविक अस्थि-पंजर अवशेष, वे अवशेष, जिनमें मूल अस्थि पंजर का स्थान किसी खनिज ने ले लिया है (कभी कभी वास्तविक बनावट ज्यों की त्यों बची रह जाती है, जैसे कि प्रस्तरीभूत लकड़ी में); और अपेक्षाकृत कम स्पष्ट अवशेष, जैसे किसी बहुत समय पहले मर चुके प्राणी के पदचिह्न, जो बहुत कुछ उसी प्रकार परिरक्षित रह गये हैं, जैसे गीले सीमेंट के कंकरीट पर किसी मनुष्य का पदचिह्न बन जाये, तो वह चिरकाल के लिए सुरक्षित हो जाता है।

यदि पृथ्वी कोई शान्त स्थान रही होती, तो उस समय से लेकर, जब सर्वप्रथम फॉसिल बनानेवाले प्राणी प्रकट हुए थे, अब तक के पूरे इतिहास की रूपरेखा तैयार करना आसान होता। उस दशा में सबसे नीचे दबे हुए शैल सबसे प्राचीन

होते और उनमें सबसे पुराने जीव-जन्तु होते और इस प्रकार हमें प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक एक नियमित शृंखला प्राप्त हो जाती। दुर्भाग्य से, यह पृथ्वी शान्त बिल्कुल ही नहीं रही है। इसकी पपड़ी में बड़ी उथल-पुथल होती रहती है; पर्वतीय प्रदेश ऊपर उठते है और धीरे धीरे घिस कर नीचे हो जाते है; समुद्र उन स्थानों पर आ जाते हैं, जहाँ पहले स्थल भाग था और लम्बे युगों के पश्चात् समूचे महाद्वीपों की आकृतियाँ बदल जा सकती है। छोटे पैमाने पर होती हुई इस प्रकार की बात हम आज भी देख सकते हैं। शताब्दियों पहले, यार्कशायर में रेवन्स्पर एक महत्वपूर्ण नगर था—यही वह स्थान था, जहाँ १३९९ में हेनरी बोलिंगब्रोन अपने जहाज़ों से किनारे पर उतरा था—परन्तु आज उसका कुछ भी अंश बाकी नहीं है; समुद्र आगे बढ़ आया है और रेवन्सपर पानी में डूब गया है। दूसरी ओर, कुछ अन्य इलाकों में समुद्र पीछे हट रहा है। कैंट में, रोमनी से कुछ ही दूर कुछ प्रकाशस्तम्भ देखे जा सकते हैं, जो किसी समय समुद्र के तट पर थे, किन्तु अब वे समुद्र तट से इतनी दूर स्थल भाग में हैं कि अब वे उपयोगी नहीं रहे। हज़ारों वर्ष पूर्व इंगलैंड स्वयं यूरोप के साथ जुड़ा हुआ था और विशाल सरीसृपों के युग में स्थल प्रदेशों और समुद्रों के स्वरूप उनके आज के स्वरूपों से बिल्कुल ही भिन्न थे।

यदि किसी सेब को उबाल कर ठंडा होने दिया जाये, तो उसके छिलके में झुर्रियाँ सी पड़ कर वलन (मोड़) बन जायेंगे। जब स्वयं पृथ्वी ठंडी हुई, तब इसका भीतरी भाग सिकुड़ कर ऊपर की ठोस हुई पपड़ी से अलग हो गया; पपड़ी

भीतरी भाग के लिए आवश्यकता से अधिक बड़ी हो गई, और वह मुड़-तुड़ गई, जिससे पर्वत मालाएं बनीं। अन्य शक्तियां भी अपना काम कर रही थीं और सच तो यह है कि यह प्रक्रिया अभी भी पूर्ण नहीं हुई है। यह सब बहुत ही गौरवपूर्ण मन्द गति से होता रहता है। कोई पर्वतमाला पाँच मिनट में नहीं बन सकती; उसके बनने में लाखों वर्ष लगते हैं, किन्तु उससे शैलों के अभिलेख में घपला हो जाता है, और इस कहानी के कुछ अंश तो बिल्कुल ही गायब हैं।

यदि हम कोई मोटी सी पुस्तक लें, उसके पृष्ठों को फाड़ कर अलग-अलग कर लें उनकी पृष्ठ संख्याएं हटा दें और उसके बाद उन सबको गड्डम-गड्ड करके मिला दें, तो उनको फिर सही क्रम में जोड़ पाना प्रायः कठिन ही काम होगा, विशेष रूप से तब, जब कि उनके कुछ पृष्ठ या यहाँ तक कि अध्याय के अध्याय इतने धुंधले पड़ गये हों कि पढ़े ही न जाते हों। 'शैलों की पुस्तक' के साथ भू-वैज्ञानिक को बहुत कुछ यही काम करना पड़ता है और हमें मानना होगा कि इन परिस्थितियों में उसने इस कार्य को बहुत अच्छी तरह निबाहा है।

भू-वैज्ञानिक ने इस पुस्तक को पाँच मुख्य अध्यायों में बांट लिया है, जिनमें से प्रत्येक में पृथ्वी के इतिहास की लम्बी अवधियां आ गई हैं। ये अध्याय हैं-प्राक् कैम्ब्रियन (जीवन से पूर्व), पुराजीव (पैलियोज़ोइक, प्राचीन जीवन), मध्यजीव (मैसोज़ोइक, सरीसृपों का युग), तृतीय महाकल्प (स्तन-पायियों का युग), और चतुर्थ महाकल्प (आधुनिक जीवन)। इनमें से प्रत्येक अध्याय को फिर 'अनुच्छेदों' में बांटा गया है। उदाहरण के लिए, मध्यजीव (मैसोज़ोइक) अध्याय

में तीन अनुच्छेद हैं-ट्रियैसिक, जुरैसिक और क्रिटैशस । ये नाम कुछ भद्दे तो हैं, किन्तु इन्हें हृदयंगम करना कठिन नहीं है ; ये काफी आसानी से याद हो जाते हैं और इनकी पूरी सूची पुस्तक में अन्यत्र दी गई है ।

इन अनुच्छेदों को भी 'निम्न' और 'उपरि' शब्दों के प्रयोग द्वारा विभक्त किया गया है। उदाहरण के लिए, ट्रियैसिक अनुच्छेद को 'निम्न ट्रियैसिक 'अर्थात् अपेक्षाकृत पहले के 'वाक्य' और 'उपरि ट्रियैसिक' अर्थात अपेक्षाकृत वाद के 'वाक्य' में विभक्त कर दिया गया है । ये विशिष्ट पारिभाषिक शब्द यथेष्ट तर्क-संगत हैं । क्योंकि उपरि ट्रियैसिक इन दोनों में से अपेक्षाकृत अधिक हालका है इसलिए फॉसिलों समेत उसके शैल निम्न ट्रियैसिक के शैलों की परत के ऊपर होने चाहिए; और समान्यतया यही स्थिति होगी भी; किन्तु पृथ्वी की पपड़ी की शनैः शनै होने वाली ऐंठन और उथल-पुथल के कारण बहुत बार यह नियमित क्रम अस्तव्यस्त भी हो जाता है ।

इंग्लैंड के इतिहास की पुस्तकों में भी वहुत कुछ इसी सिद्धान्त का प्रयोग किया जाताहै । उदाहरण के लिए, १४८५ और १६०३ के बीच का काल ट्यूडर काल कहलाता है; यदि हम चाहें तो हेनरी सप्तम और हेनरी अष्टम के शासन-कालों को 'निम्न ट्यूडर' और वाकी को 'उपरि ट्यूडर' काल कह सकते हैं । लेकिन इसमें दो बड़े अन्तर हैं। ट्यूडर काल का अन्त समान्यतया एकाएक १६०३ में, एक विशिष्ट घटना रानी ऐलीज़ाबैथ प्रथम की मृत्यु के साथ हो गया माना जाता है; किन्तु भू-विज्ञान में हम इतने सुनिश्चित नहीं हो सकते, क्योंकि वहाँ तो एक काल दूसरे काल में इस प्रकार मिला

रहता है कि दोनों के बीच कोई सीमा रेखा ही नही होती। इसके अलावा, इंगलैंड के इतिहास का समय मान कहीं अधिक छोटा है। ट्यूडर काल केवल ११८ वर्ष का है, किन्तु पृथ्वी के इतिहास का ट्रियैसिक कल्प पूरे ढाई करोड़ वर्षों का है।

अब तक हम इनमें से सबसे पहले अध्याय, प्राक्-कैम्ब्रियन, का विवेचन करते रहे हैं, जो दो अनुभागों-आद्यजीव (आर्कियो-ज़ोइक) और प्राग्जीव (प्रोटी रोज़इक) में विभक्त है। यह काल कुल मिलाकर २५० करोड़ वर्षों की अवधि का है, जो पृथ्वी के शुरू-शुरू में बनने से लेकर उस समय तक फैला हुआ है, जब के कि हमें सर्वप्रथम फॉसिल (प्रस्तरीभूत अवशेष) प्राप्त होते हैं, और इस प्रकार यह काल बाकी सब अध्यायों की सम्मिलित अवधि से पाँच गुना बड़ा है।

प्राक्-कैम्ब्रियन काल के अध्ययन में सहायता के लिए हमें कोई फॉसिल प्राप्त नहीं होते और हमें अधिकतर अनुमान के सहारे ही काम चलाना पड़ता है, किन्तु शैल स्वयं ही हमें बता देते हैं कि हम सही रास्ते पर हैं। जब यह काल शुरू हुआ, तब पृथ्वी एक अग्निमय पिंड थी; जब यह समाप्त हुआ, तब अबसे लगभग ५२ करोड़ वर्ष पहले पृथ्वी पर एक ठोस सतह थी, जिसमें स्थल प्रदेश और गरजते हुए ज्वालामुखी थे। हडसन खाड़ी के आस पास 'बाहरी हैब्राइड्स' में और फिनलैंड के कुछ भागों में पाये गये अत्यन्त प्राचीन शैल प्राक् कैम्ब्रियन काल के हैं और सम्भाव्यतः वे उन विशाल पर्वतों के घिस कर छोटे रह गये ठूंठ हैं, जो किसी समय वहाँ खड़े थे। प्राक्-कैम्ब्रियन काल में पृथ्वी की पपड़ी में कम से कम नौ बार बहुत बड़ी उथल-पुथल हुई और ऊष्मा (गर्मी) भी घटती बढ़ती रही;

प्रथम शीतल (ठंडा होने) के बाद तीव्र गर्मी के काल आये और उनके बीच में ठंडे काल अपेक्षाकृत कम बार आये।

५२ करोड़ वर्ष पहले के शैल हैं, वे सबसे प्राचीन शैल हैं, हमें भली जिनमें परिरक्षित फॉसिल प्राप्त होते हैं और इसलिए उन्हें हम प्राक् कैम्ब्रियन काल की समाप्ति का सूचक मानते हैं। अब क्योंकि हमने पृथ्वी के इतिहास की इस पुस्तक की अनुक्रमणिका को पढ़ लिया है, इसलिए हम शेष सारी पुस्तक का भाषान्तर कर डालने को और युग-युगान्तर-व्यापी पृथ्वी की कहानी को वर्तमान काल तक जान लेने के लिए तैयार हैं। यह सचमुच ही बहुत मनोहारी कथा है। सबसे पहले हमारी भेंट क्षुद्र समुद्री जीव-जन्तुओं से होती हैं; उसके बाद मछलियों से; उसके बाद उभयचर (जल-स्थलचर) प्राणी पहले पहल रेंग कर स्थल पर आते हैं और क्रमशः सरीसृपों के रूप में विकसित हो जाते हैं। उसके बाद ये सरीसृप बहुत महान बन जाते हैं, यहाँ तक की सारी पृथ्वी पर ऐसे विशालकाय सरीसृपों का राज्य हो जाता है, जिनकी तुलना में हाथी बिल्कुल बौना प्रतीत होता है। उसके बाद ये दैत्यकाय प्राणी मर जाते हैं और उनका स्थान पक्षी, स्तनपायी प्राणी और अन्त में मनुष्य ले लेते हैं और इस सारे समय में समुद्र कभी आगे बढ़ते हैं, कभी पीछे हटते हैं, नये पर्वत बनते हैं और सारा चित्र बार-बार बदलता रहता है। और इस कहानी का अन्त यहाँ भी नहीं हैं। इस महान पुस्तक के कई अध्याय अभी लिखे जाने शेष हैं।

अध्याय चार

जीवन का आरम्भ

प्राक्-कैम्ब्रियन काल प्रकृति की पुस्तक की भूमिका मात्र था। उसके बाद स्वयं पुस्तक शुरू होती है। इसका आरम्भ उस काल से होता है, जिसे पुराजीव कल्प (पैलियोज़ोइक) या प्राचीन जीवन का काल कहा जाता है; इससे पहले अनुभाग 'निम्न पुराजीव' (लोअर पैलियोज़ोइक) का आरम्भ कैम्ब्रियन युग और सबसे प्रारम्भिक ज्ञात प्राणियों से होता है।

कैम्ब्रियन नाम वेल्स के पुराने रोमन नाम कैम्ब्रिया के कारण पड़ा है, क्योंकि यही वह स्थान था, जहां इन प्राचीन शैलों को पहले पहल पहचाना गया था। कैम्ब्रियन कल्प १० करोड़ वर्षों का रहा; यह अब से ५२ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ और ४२ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हो गया। यह मन्द, किन्तु निरन्तर विकास का युग था।

संसार का वैसा नक्शा बना पाना, जैसा कि यह उस काल में था, अवश्य ही कठिन काम है। शैलों का अभिलेख उलझा हुआ है और खंडित है, और उसके कुछ अंश तो बिल्कुल ही गायब हैं। फिर भी हम वैसा नक्शा बनाने का यत्न कर सकते हैं; और यह अवश्य ही निश्चित-सा-प्रतीत होता है कि भूमध्य रेखा के दोनों ओर, जिस क्षेत्र में अफ्रिका, दक्षिण अमेरिका और दक्षिणी अतलान्तक हैं, एक विशाल महाद्वीप
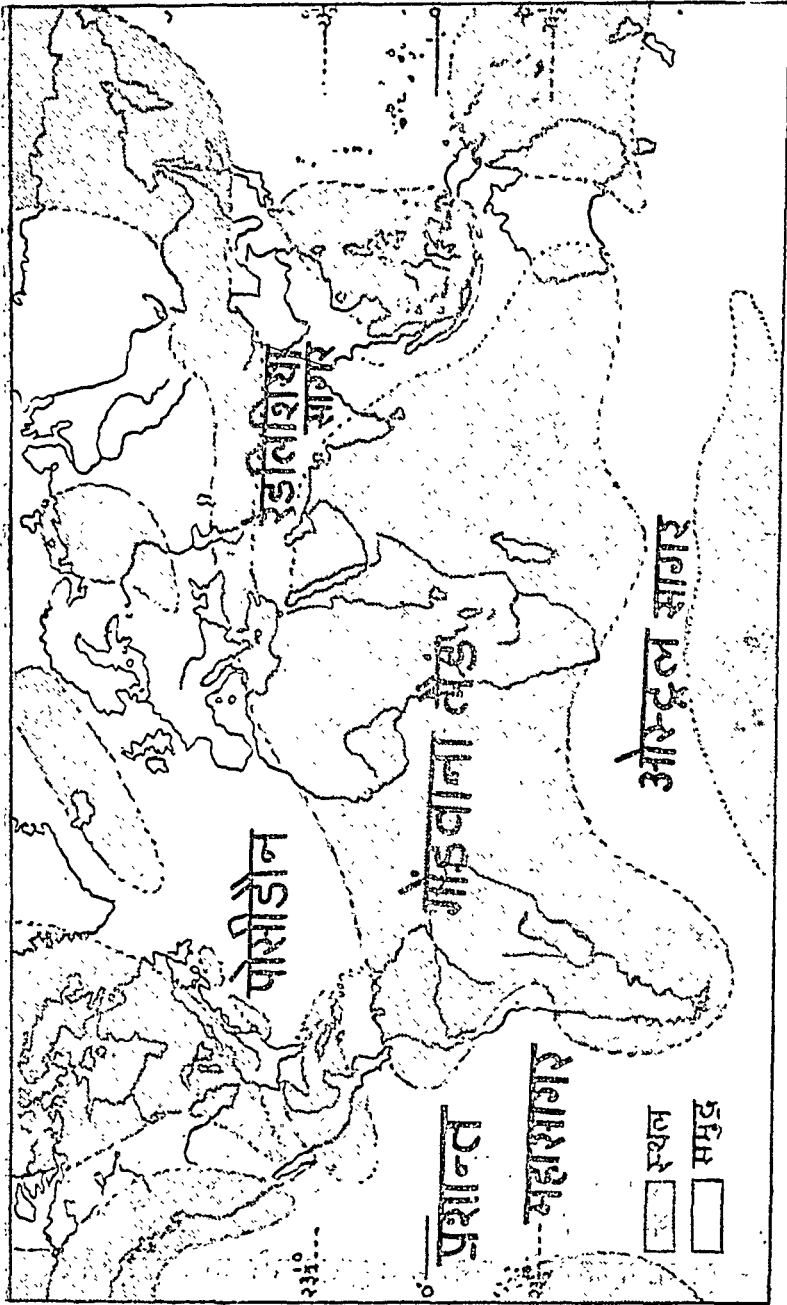
संसार का मानचित्र—केम्ब्रियन कल्प

फैला हुआ था, जिसे 'गोंडवानालैंड' नाम दिया गया है। इसके दक्षिण की ओर एक समुद्र था--औस्ट्रल सागर; उत्तर की ओर, जहां आधुनिक ब्रिटेन है, पौसीडौन सागर था, और रैंड-लिशिया सागर इसके पश्चिम की ओर था। प्रशान्त महासागर, जो आजकल की दुनियाँ में सबसे बड़ा महासागर है उस समय भी विद्यमान था। सच तो यह है कि प्रशान्त महासागर के कई भाग तो ऐसे हैं, जो कभी भी शुष्क स्थल प्रदेश रहे प्रतीत नहीं होते, और इस प्रकार यह एक अर्थ में संसार का 'सबसे पुराना महासागर' है। संभाव्यतः इसके निरन्तर इसी रूप में बने रहने का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध इसकी तली में सिऐली आवरण के अभाव के साथ जुड़ा हुआ है। चन्द्रमा के पृथ्वी से टूट कर बनने के सिद्धान्त से इस बात की व्याख्या भली भांति हो सकती थी, और अधिकांश भू-वैज्ञानिकों को इस बात का खेद है कि वह सिद्धान्त गलत सिद्ध हो गया है।

गोंडवानालैंड अवश्य ही एक एकान्त, भयावह स्थान रहा होगा। उस समय तक कोई वनस्पतियाँ नहीं थीं और पशु, यहां तक कि सरीसृप भी दूर भविष्य में जा कर होने थे। गोंडवा-नालैंड का अधिक भाग संभाव्यतः मरुस्थल था, हालांकि हमारे पास इस बात को निश्चित रूप से जानने का कोई साधन नहीं है। चाहे जो हो, किन्तु उस समय तक भी बहुत से ज्वालामुखी थे और बंजर भूभागों पर भीषण आँधियों और तूफान चला करते थे और प्राचीन समुद्रों का जल समुद्र-तटों पर अविराम थपेड़े मारा करता था।

समुद्र अपने आप में सम्भाव्यतः कुछ उथले अधिक थे और

प्राक्-कैम्ब्रियन काल के समुद्रों की अपेक्षा अधिक दूर-दूर तक फैले हुए थे। ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते गये, त्यों-त्यों बालू और काला कीचड़ महासागरों की तली पर जमता गया और उसके कारण वे तलियाँ नीचे को बैठ गईं; ये बालू और कीचड़ धीरे-धीरे कठोर होकर सलेट जैसे पदार्थ बन गये और यह प्रक्रिया निरन्तर करोड़ों वर्षों तक चलती रही। यह भी प्रतीत होता है कि समुद्र उस समय हल्के गर्म थे। हम तापमान का निश्चय स्वयं शैलों द्वारा तो नहीं कर सकते, किन्तु ग्रीनलैंड और दक्षिणी ध्रुव जितने एक दूसरे से दूर स्थानों पर ऐसे अवशेष पाये गये हैं, जिनमें स्पष्टतः हल्के गर्म पानी के अभिलक्षण विद्यमान हैं; इससे यह पता चलता है कि कैम्ब्रियन काल के महासागरों का सामान्य तापमान आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक था।

यह कहना सही नहीं है कि जीवन का आरम्भ कैम्ब्रियन कल्प में हुआ। इसका आरम्भ उससे पहले हो चुका था, यह बात हम इस तथ्य के आधार पर बता सकते हैं कि जब कैम्ब्रियन युग शुरू हुआ, तब बड़ी संख्या में पौधे, मुख्यतया समुद्री घास-पात, और अनेक प्रकार के छोटे-छोटे समुद्री जीव-जन्तु पहले से ही विद्यमान थे। परन्तु हम इस विषय में तो कुछ कम या अधिक अनुमान कर भी सकते हैं कि जीवन का आरम्भ कब हुआ, परन्तु हमें इस बात का वस्तुतः कोई अन्दाज़ा नहीं है कि जीवन किस प्रकार आरम्भ हुआ। सत्य तो यह है कि 'जीवन' के विषय में आज भी हमें बहुत कम ज्ञान है। हम अपने लिए जीवन को स्वयं बना नहीं सकते, हालांकि हम, दुर्भाग्यवश, उसे बहुत ही आसानी से नष्ट अवश्य कर सकते हैं। लेकिन हम इतना जरूर जानते हैं कि सम्पूर्ण

जीवन एक विशेष सामग्री, कार्बन, पर आधारित है और यह इतनी महत्वपूर्ण वस्तु है कि इस पर कुछ और अधिक विचार कर लेना उचित होगा।

सारा पदार्थ (भौतिक तत्त्व) अकल्पनीय रूप से छोटी-छोटी इकाइयों से मिल कर बना है, जिन्हें परमाणु कहा जाता है। ये परमाणु इतने छोटे होते हैं कि उन्हें अलग-अलग उस अधिकतम शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यंत्र द्वारा भी नहीं देखा जा सकता, जिसे कभी भी हमारे बना पाने की संभावना है। किन्तु हम परमाणुओं का एक-एक करके अध्ययन भले ही न कर सकें, पर हम इस विषय में बहुत कुछ पता चला सकते हैं कि वे किस प्रकार आचरण करते हैं। प्राकृतिक रूप से पाये जाने वाले ये परमाणु कुल ९२ प्रकार के हैं, और इस ब्रह्मांड की सभी वस्तुएँ, तारों और ग्रहों से ले कर मनुष्यों और रांगे की कील (टिन टैक) तक, इन्हीं ९२ 'तत्वों' के विभिन्न सम्मिश्रणों से बनी हुई हैं। इन तत्वों की एक पूरी शृंखला बनी हुई है और इस प्रकार इस बात की कोई गुंजाइश नहीं है कि उनमें से कोई तत्व हमें अज्ञात रह गया हो। इस मामले में उनकी तुलना सामान्य अंकों के साथ की जा सकती है। उदाहरण के लिए, यदि हम ७ और ८ के बीच में कोई पूर्ण अंक रखने का यत्न करें, तो हम इसमें असफल रहेंगे, केवल इसलिए कि उसके लिए वहां जगह ही नहीं है; इसी प्रकार १ से ९२ तक के अनुक्रम में किसी अतिरिक्त परमाणु के लिए भी जगह नहीं है। (यह सही है कि हाल के वर्षों में कुछ थोड़े से नये तत्व कृत्रिम रूप से बनाये गये हैं, किन्तु इनका स्थान उन ९२ तत्वों के बाद है और इनकी क्रम संख्या ९३,

९४ इत्यादि है ; ये सब के सब अस्थिर हैं और ये यूरेनयिम से भी जल्दी खंडित हो जाते हैं; इससे यह सम्भाव्य नहीं है कि ये प्राकृतिक रूप में भी प्राप्त होते हों ।)

यह बात विचित्र अवश्य जान पड़ती है कि सारा पदार्थ (भौतिक तत्व) इतने थोड़े से तत्वों से मिल कर बना हुआ है; परन्तु इससे मिलती-जुलती कई अन्य बातें हैं, जो हमारे लिए सुपरिचित हैं । अंग्रेजी भाषा के हजारों-लाखों शब्द केवल २६ अक्षरों के विभिन्न प्रकार के संयोगों से बने हुए हैं और जितनी भी संगीत की धुनें आपने कभी सुनी हैं, वे सब की सब सप्तक (सरगम, आक्टेव) के आठ स्वरों के मेल से ही बनी हैं । सीसा, सोना, सिलिकौन और कार्बन जैसे पदार्थ तो तत्व हैं; किन्तु अन्य, नमक और पानी जैसे पदार्थ तत्व नहीं हैं । नमक सोडियम और क्लोरीन के, जो दोनों ही तत्व हैं, संयोग से बना है; पानी, जैसा कि हर किसी को मालूम है हाइड्रोजन और आक्सीजन के मेल से बना है । हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और आक्सीजन के एक परमाणु के मिलने से पानी का एक परमाणु-समूह अर्थात् 'अणु' (मौलिक्यूल) तैयार होता है ।

इस अणुओं के निर्माण में कार्बन सब तत्वों से कहीं अधिक कार्यक्षम है । कार्बन के परमाणु अन्य तत्वों के परमाणुओं के साथ मिल कर अपेक्षाकृत अधिक बड़े और जटिल समूह बना सकते हैं और ये समूह ही जीवित पदार्थ के लिए आवश्यक होते हैं । आजकल के हाथी या मनुष्य से ले कर कैम्ब्रियन जगत के किसी समुद्री जन्तु तक प्रत्येक जीवित वस्तु कार्बन पर ही आधारित रही है; और इसका श्रेय अन्य किसी तत्त्व को नहीं मिल सकता ।

कुछ वैज्ञानिकों जैसे रूसी प्रोफेसर ए० ग्राई० ओपैरिन, के मतानुसार आरम्भिक महासागरों के हल्के गर्म जल में सरल कार्बन यौगिक (समास) घुले हुए थे और समय बीतने के साथ-साथ ये यौगिक क्रमशः अधिकाधिक जटिल होते गये और यहाँ तक कि वे अन्त में जीवित पदार्थ वन गये। सम्भाव्यतः ओपैरिन का मत ठीक है। वस्तुतः उसका सिद्धान्त 'जीवन' की व्याख्या नहीं करता; हमें अव तक भी पता नहीं है कि ये कार्बन यौगिक निर्जीव पदार्थ से किस प्रकार जीवित पदार्थ में वदल गये। लेकिन इस समय हमारे मस्तिष्क इतने काफी उन्नत नहीं कि वे हमें रहस्य को बतला सकें, और इस वात की और अधिक चर्चा करने से कोई लाभ नहीं है। जो कुछ हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, वह यह है कि प्राक्-कैम्ब्रियन अध्याय में किसी समय समुद्री जीव-जन्तुओं का आरम्भ हुआ।

जीवन समुद्र में शुरू हुआ, केवल इसलिए कि समुद्र उसके लिए सर्वोत्तम स्थान था। जहाँ भी दशाएँ उपयुक्त होंगी, वहीं जीवन प्रकट हो जायेगा। इस बात को हम खगोल विज्ञान के आधार पर कह सकते हैं। मंगलग्रह पर, जो बहुत अधिक अमित्रतापूर्ण नहीं है, विशाल प्रदेश उन वनस्पतियों से ढके प्रतीत होते हैं, जो वहां पनप गई हैं। परन्तु कैम्ब्रियन काल की पृथ्वी के स्थल भाग उस समय इसके लिए तैयार नहीं थे और इससे पहले कि पौधे भी रेंग कर समुद्र से बाहर स्थल पर आ सकें, अभी करोड़ों वर्ष और बीतने थे।

कैम्ब्रियन काल के समुद्रों के अधिकांश प्राणी अवश्य ही क्षुद्र थे। उस समय स्पंज, जैली फिश, स्टार फिश, शेल फिश,

और गिडोले थे, जिनमें से कुछ तो आजकल के इन्हीं प्राणियों से भिन्न नहीं थे। उनमें से अधिकांश कोमल शरीर वाले थे और उनके कोई ऐसे कठोर अवशेष नहीं बचे, जो बाद में फॉसिलों के रूप में प्राप्त हो सकते; परन्तु कैम्ब्रियन शैलों में जहाँ-तहाँ गिडोलों और जैली फिशों की छाप पाई गई है, जो हमारे पहले बताये गये फॉसिलों के प्रकारों में से तीसरे या 'परोक्ष' प्रकार के उदाहरण हैं। किन्तु उस समय जीवित प्राणियों में सबसे उन्नत प्राणी 'ट्राइलोबाइट' थे, जो कुछ केंकड़े जैसे थे और जो अब से केवल २० करोड़ वर्ष पहले तक भी (भू-वैज्ञानिक-समय-मान की दृष्टि से बिल्कुल हाल तक) बचे हुए थे, किन्तु वे अपने कोई वंशज नहीं छोड़ गये।

संभाव्यतः स्वयं ट्राइलोबाइट गिडोले जैसे किन्हीं प्राणियों के वशंज थे, परन्तु वे अपेक्षाकृत कहीं अधिक उच्चतर कोटि के थे। इस जाति के सबसे बड़े प्राणियों की लम्बाई कई फुट तक होती थी, हालांकि अन्य केवल एक या दो इंच लम्बे होते थे। और इनमें सबसे छोटे प्राणी आलपिन के सिर जितने ही बड़े होते थे। उनकी टांगें कानखजूरे की टांगों की भांति बहुत-सी होती थी और उनकी आँखें सामान्यतया उनके सिर के ऊपर की ओर होती थीं। इससे यह प्रमाणित होता प्रतीत होता है कि ट्राइलोबाइट अपना अधिकांश समय समुद्र की तली में व्यतीत करता था; वह अपनी टांगों का उपयोग बिल्कुल साधारण रीति से करता था। टांगों में विचित्र ढंग से शाखाएं फटी होती थीं। जब ट्राइलोबाइट अपनी तैरने की टांग से काम लेना शुरू करता, तो वह समुद्र की तली से ऊपर उठ कर पानी में बिना प्रयास उतराता रह सकता था और अपनी

पूंछ को सिर्फ एक झटका दे कर ही वह तेज़ी से अपने किसी भी संभावित शत्रु से दूर जा सकता था।

सच बात तो यह है कि उस सुदूर अतीत में खतरे बहुत थोड़े थे। परवर्ती समुन्द्रों के विशाल प्राणी, जैसे कि सरीसृप और शार्क मछलियां, उस समय तक प्रकट नहीं हुए थे। स्वयं ट्राइलोबाइट ही संसार के स्वामी थे। और सारे कैम्ब्रियन काल में वे स्वामी बने रहे। अन्त में, लगभग २० करोड़ वर्ष बाद वे मर कर समाप्त हो गये। भू-विज्ञान की अन्य प्रत्येक घटना की भांति उनका लोप भी धीरे-धीरे ही हुआ, किन्तु पुराजीव (पैलियोज़ोइक) काल के अन्त तक वे समाप्त हो चुके थे।

कैम्ब्रियन काल के समुद्रों में 'ग्रैप्टोलाइट' भी आमतौर से पाये जाते थे, जो ट्राइलोबाइटों की अपेक्षा कहीं कम विकसित थे। ग्रैप्टोलाइट छोटे-छोटे प्राणियों की बस्तियाँ-सी होती थीं, जो एक विचित्र शृंगिल (सींग निर्मित) जाल में बन्द रहती थीं और यह जाल समुद्र की सतह के पास ही उतराता रहता था। स्वभावतः, ग्रैप्टोलाइटों की ये बस्तियां समुद्र की धाराओं में बह जाती थीं और इस प्रकार ये सारे महासागरों में फैल गई थीं।

अब से चालीस करोड़ वर्ष से भी कुछ अधिक पहले समुद्रों का हल्का गर्म और उथला जल पीछे की ओर हटने लगा और इससे नये सूखे स्थल भाग बाहर निकल आये। यह प्रक्रिया कुछ समय तक चलती रही, किन्तु अन्त में समुद्र एक बार फिर फैल गये। हम इस फैलाव को पुराजीव महाकल्प में एक नये कल्प, 'और्डोविशन कल्प' के आरम्भ का चिह्न मानते हैं। इस युग

का यह नाम एक कैल्टीय कबीले, औडोंविसिज़, के नाम पर पाड़। यह कबीला वेल्स के उस भाग में रहता था, जहाँ इस काल के शैलों का पहले पहल भलीभाँति अध्ययन किया गया। औडोंविशन कल्प ७ करोड़ वर्ष तक रहा, जो अब से ४२ करोड़ वर्ष से लेकर ३५ करोड़ वर्ष पहले तक था और इस प्रकार यह कैंम्ब्रियन काल की अपेक्षा काफी छोटा था।

सामान्यतया कैम्ब्रियन और औडोंविशन काल में कोई बड़ा अन्तर नहीं था, हालांकि समुद्र में जीवन का निरन्तर विकास हो रहा था। स्थल भाग अब भी बंजर थे और चट्टानों से भरे थे। ज्वालामुखियों की हलचल बहुत थी—जैसे कि उस प्रदेश में, जहाँ आधुनिक वेल्स है--और ऐसा प्रतीत होता है कि सारी पृथ्वी सुखद रूप से हल्की गर्म थी, हालांकि यह सच है कि जहां-तहां, विशेष रूप से वहां, जहां आजकल नार्वे हैं, हिम-छत्र विद्यमान रहे होंगे।

वानस्पतिक जीवन अब तक भी समुद्री घास-पात तक ही सीमित था और ट्राइलोबाइट ही संसार के स्वामी बने हुए थे। हल्के गर्म और स्वच्छ जल में स्पंज, मूंगे, और समुद्री घोंघे (स्नेल) आधुनिक कटलफिशों और आक्टेपसों के क्षुद्र वंशजों के साथ-साथ खूब पनप रहे थे। परन्तु औडोंविशन कल्प की समाप्ति के आस पास एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सर्व प्रथम मेरुदंड (रीढ़ की हड्डी) वाले प्राणियों का आविर्भाव हुआ ये उस समय तक भी सही मत्स्य तो न थे, किन्तु कम से कम केंकड़े जैसे ट्राइलोबाइटों की अपेक्षा उच्चतर कोटि के अवश्य थे।

जीवन को 'शुरू होने' और इन सर्वप्रथम मेरुदंड वाले

प्राणियों तक विकसित होने में एक सौ करोड़ से भी अधिक वर्ष लग गये थे, किन्तु इससे आगे की प्रगति कहीं अधिक तीव्र होनी थी। अब से ३५ करोड वर्ष पहले जब और्डोविशन युग समाप्त हुआ, तब प्रकृति की कहानी में अगले अंक के लिए रंगमंच सज चुका था।

अध्याय पांच

मत्स्य-युग

अब तक हमने जिन कल्पों की चर्चा की है, उनमें से प्रत्येक की अवधि बहुत लम्बी रही थी। अकेला प्राक्-कैम्ब्रियन कल्प ही पृथ्वी के इतिहास के २५० करोड़ वर्षों में फैला रहा, जब कि कैम्ब्रियन कल्प १० करोड़ वर्षों का और और्डोविशन कल्प ७ करोड़ वर्षों का रहा। लेकिन बाद में विकास की गति अधिक तीव्र होने के कारण भू-वैज्ञानिकों ने बाकी समय को अपेक्षाकृत छोटे अनुभागों में बाँटा है और अगला कल्प, सिल्यूरियन कल्प (इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि किसी समय सिल्यूर नामक कबिले के लोग वेल्स के उस भाग में रहते थे, जहाँ इस काल के शैलों का पहले पहल अध्ययन किया गया था) केवल ३ करोड़ वर्षों का रहा। इस प्रकार यह अबसे ३२ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हुआ।

पहले तीन भू-वैज्ञानिक कालों के नाम वेल्स से सम्बन्धित क्यों रखे गये, इसका इस तथ्य के सिवाय कोई विशेष कारण नहीं है कि वेल्स के शैल विशेष रूप से पुराने हैं और अच्छी परिरक्षित दशा में हैं। चौथे कल्प डिवोनी का नाम डैवनशायर के नाम पर पड़ा है, जब कि शेष कालों के नाम इस प्रकार के हैं, जो कुछ कम स्पष्ट हैं।

सिल्यूरियन कल्प कुछ कम या अधिक और्डोविशन कल्प

का ही आगे जारी रहा रूप था। इसका आरम्भ प्रचंड उथल-पुथल से हुआ और इसका अन्त पर्वत-निर्माण के युग से हुआ, परन्तु अपने ३ करोड़ वर्षों में से अधिकांश में यह एक शान्त समय रहा, जिसमें ज्वालामुखियों की हलचल बहुत कम रही। पृथ्वी की तरुणतम ऊर्जा समाप्त हो चुकी थी और ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे यह ग्रह अभी और आने वाले उत्पातों के लिए अपनी शक्ति संचित कर रहा था। सिल्यूरियन जगत् भी सुखद रूप से कोष्ण था और समुद्र भी जीवन के निरन्तर विकास के लिए बहुत उपयुक्त थे। यहाँ तक कि स्थल प्रदेश भी कम अमित्रतापूर्ण हो चले थे। इसलिए इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि सिल्यूरियन काल में ही पौधों ने पहले पहल जल को सदा के लिए त्याग दिया और खुली वायु में एक नवीन जीवन शुरू किया।

आरम्भिक सिल्यूरियन युग की वनस्पतियां भी समुद्री घास-पात से अधिक कुछ नहीं थीं, किन्तु पौधे अपने आपको आस-पास की परिस्थितियों के अनुकूल ढालने में बहुत अच्छे रहे। शुरू-शुरू में समुद्री घास-पात समुद्र के छोर के पास उथले पानी में उगते रहे होंगे; उसके बाद भाटे के समय उन्हें लगातार घंटों तक पानी से बिल्कुल बाहर रहना पड़ता होगा और अन्त में उन्होंने यह सीख लिया कि पानी से बिल्कुल ढंके रहे बिना भी किस प्रकार गुज़ारा किया जा सकता है। एक बार फिर यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे और क्रमशः हुआ, और हम नहीं कह सकते कि यह ठीक कब और कैसे शुरू हुआ; परन्तु सिल्यूरियन काल का अन्त होते-होते स्थल के पौधे बिल्कुल सामान्य वस्तु बन चुके थे, कम-से-कम समुद्र

तटों के पास तो अवश्य ही। शायद विशाल गोंडवानालैंड का भीतरी प्रदेश अब भी बंजर पड़ा था, किन्तु अब तो सब जगह पौधों का फैल जाना और प्राणियों के लिए रास्ता तैयार करना केवल समय का ही प्रश्न रह गया था। इसके अलावा, इस पौधों की वृद्धि का पृथ्वी की वायु पर बहुत ही बड़ा प्रभाव पड़ा। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, ज्वालामुखियों के फटने से उत्पन्न वायु में कार्बन डाइऑक्साइड बहुत अधिक थी। कार्बन डाइऑक्साइड वह भारी और सांस में न ली जा सकने योग्य गैस है, जो ज्वालामुखियों से बड़ी मात्रा में निकली थी। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पौधे कार्बन डाइऑक्साइड को ग्रहण करते हैं और उसे फाड़ देते हैं। कार्बन डाइऑक्साइड का अणु एक कार्बन के परमाणु और दो आक्सीजन के परमाणुओं से बना होता है और पौधे इस कार्बन का तो अपने लिए उपयोग कर लेते हैं और खाली आक्सीजन गैस को छोड़ देते हैं।

हमारी वर्तमान वायु में जो मुक्त आक्सीजन है, उसका अधिकांश इसी प्रकार उत्पन्न हुआ है, किन्तु यह प्रक्रिया तभी शुरू हुई, जब स्थल पर होने वाले पौधों को पैर जमाने की जगह मिल गई। उससे पहले कार्बन डाइऑक्साइड को हटाने और आक्सीजन को मुक्त करने का कोई उपाय न था; इस कारण सिल्यूरियन काल के आरम्भ में वायु हमारे दृष्टिकोण से निश्चित रूप से अप्रिय रही होगी। लेकिन जब स्थलीय पौधे विकसित हो गये, तब स्थिति सुधरनी शुरू हो गई। आक्सीजन की वृद्धि बाकी सारे पैलियोजोइक (पुराजीव) काल में जारी रही और जिस समय विशाल सरीसृपों ने

पृथ्वी के रंगमंच पर प्रवेश किया, उस समय सम्भाव्यत: वायु आजकल की वायु से बहुत भिन्न नहीं रही होगी।

तब, सिल्यूरियन कल्प एक ऐसा शान्त काल था, जिसकी विशेषता पौधों का प्रसार और केवल अपेक्षाकृत हल्की ज्वालामुखीय हलचल थी। समुद्र, जो अब तक भी स्वच्छ और उथला था, प्राणी-जीवन का निवास-स्थान बना हुआ था। ट्राइलोबाइट अब भी आमतौर से पाये जाते थे और उनमें से कुछ ने विशेष प्रकार के रूप धारण कर लिए थे। कुछ किस्में ऐसी थीं, जो समुद्र की तली की गाढ़ी कीचड़ में रेंगती थीं और अन्दर धंस कर बैठती थीं; ये किस्में अन्त में अन्धी हो गई, क्योंकि उनकी आँखों का उनके लिए कोई उपयोग न रहा था; अन्य किस्मों की, जिन्होंने भूमि के ऊपर रहना अधिक पसन्द किया, आँखें उनके वृन्तों (पशुओं का एक वृन्त जैसा अंग) के सिरों पर थीं। ग्रैप्टोलाइट भी उस समय तक बड़ी संख्या में पाये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के आरम्भिक प्राणी अब संसार के स्वामी नहीं रहे थे। उनका ज़माना बीत चला था और जीवन के अधिक उन्नत रूप उनका स्थान लेना शुरू कर रहे थे।

उदाहरण के लिए, समुद्री बिच्छू या यूरिप्टैरिड थे। ये प्राणी भविष्य में होने वाले स्थलीय बिच्छुओं के दूर के सम्बन्धी थे, किन्तु ये अपना सारा समय पानी के अन्दर बिताते थे और फेफड़ों के बजाय गिलों से सांस लेते थे। वे महासागर की गहराइयों के बजाय उथले तटों के पास वाले समुद्रों को अधिक पसन्द करते थे। वे हमारे आजकल के बिच्छुओं से बहुत बड़े होते थे; उनमें से कुछ तो आठ या नौ फुट लम्बे

पूरे दैत्य के दैत्य होते थे। वे मांसाहारी भी थे। वे ट्राइलोबाइटों तथा आत्मरक्षा में असमर्थ अन्य प्राणियों को खा कर जीते थे और महत्वपूर्ण बात यह है कि ट्राइलोबाइटों के 'अन्त
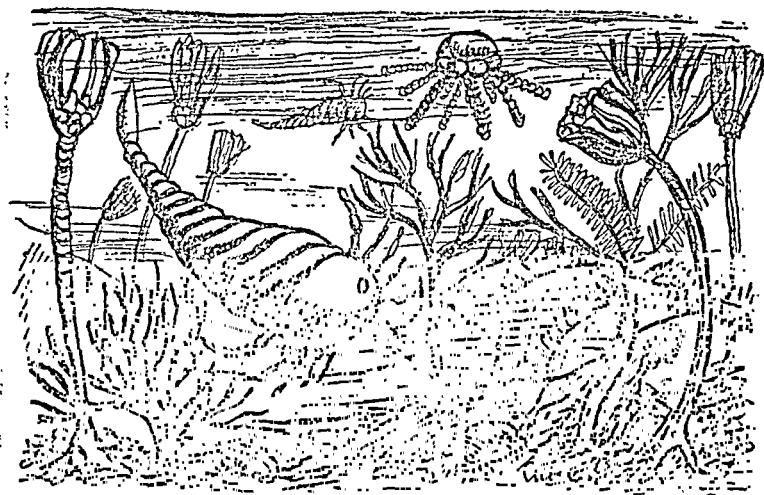
सिल्यूरियन-कालीन समुद्र

का आरम्भ' सिल्यूरियन कल्प में हो गया था, जब कि ग्रैप्टोलाइट इस कल्प की समाप्ति से पहले ही पूरी तरह मर कर समाप्त हो गये थे।

लेकिन समुद्री–विच्छू भी बहुत समय तक सर्वोच्च नहीं रहने पाये। मेरुदंड वाले प्राणी, जो पहले पहल और्डोविशन काल की समाप्ति पर पाये गये थे, इस सारे समय विकसित होते रहे थे और अन्त में उन्होंने समुद्री विच्छुओं के विरुद्ध ठीक उसी प्रकार लड़ाई छेड़ दी, जिस प्रकार समुद्री विच्छुओं ने ट्राइलोबाइटों के विरुद्ध छेड़ी थी। इसके अलावा सिल्यूरियन कल्प की शान्ति सदा नहीं बनी रहती थी। जब यह

कल्प समाप्ति की ओर पहुंचा, तब एक बार पृथ्वी में फिर बड़ी-बड़ी हलचलें होने लगीं और इन हलचलों को ही हम निम्न पुराजीव (लोअर पैलियोज़ोइक) काल की समाप्ति का सूचक चिह्न मानते हैं।

यह पर्वत-निर्माण का काल, जिसे 'कैलिडोनियन परिक्रमण' कहा जाता है, निम्न पुराजीव महाकल्प के अन्तिम कल्प (सिल्यूरियन) को उपरि पुराजीव काल के पहले भाग (डिवोनी कल्प) के साथ जोड़ता है। जब करोड़ों वर्ष बाद यह समाप्त हुआ, तब भी गोंडवानालैंड उतना ही बड़ा था, जितना कि वह पहले कभी था, किन्तु पुराने पौसीडौन सागर और रैडलिशिया सागर आपस में मिल गये थे और उनसे एक बड़ा और अनुपातत: संकरा महासागर बन गया था, जो प्रसिद्ध 'टैथिस' महासागर कहलाता था; अब से केवल दो करोड़ वर्ष पहले भी यह टैथिस महासागर के रूप में ही था, और इसका एक अंश अब तक भी आधुनिक भूमध्यसागर के रूप में बचा हुआ है।

सभी भू-वैज्ञानिक घटनाओं की भांति केलिडोनियन भी शनैः शनैः ही हुआ था। इसे एक ऐसे काल के रूप में चित्रित करना गलत होगा, जिसमें कोई पर्वत एकाएक उभर आता हो, जिससे कोई ऐसा प्रदेश, जो पहले दिन तो नीचा हो, अगले दिन सवेरे किसी पर्वत का शिखर बन जाता हो। किन्तु डिवोनी कल्प में, जो अबसे ३२ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ और २७.५ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हो गया, वह गतिविधि, जो सिल्यूरियन कल्प में शुरू में हुई थी, बिना रुके जारी रही। ज्यों ही कोई पर्वत बढ़ने लगता था, त्यों ही 'अपरदन' (कटाव, छीजन)

की सामान्य प्रक्रिया, या पवन और जल का प्रभाव उसे फिर घिस कर नीचा करना शुरू कर देता था और बहुत बड़ी मात्रा में कंकड़, रेत और कीचड़ उत्पन्न होते थे। उदाहरण के लिए पश्चिमी इंग्लैंड में—जो उस समय समुद्र-तल से नीचा था—तलछट काली कीचड़ के रूप में जमते गये और वे बाद में दब कर 'शेल' (मृत-शिला) और सलेट बन गये। इस प्रकार की गढ़न डैवनशायर में भली-भाँति दिखाई पड़ती है और हम यह भली भांति समझ सकते हैं कि बहुत बार डिवोनी कल्प को 'पुरानालाल बालुकाश्म (वलुआ पत्थर) काल' क्यों कहा जाता है।

कुल मिला कर डिवोनी कल्प की दशाएं सिल्यूरियन कल्प की अपेक्षा कहीं कम सुखद थीं। पृथ्वी अब भी कोष्ण थी और सच तो यह है कि अधिकांश स्थल भागों में तपा हुआ, सूखा जलवायु था, जिसमें थोड़े-थोड़े समय के लिए ज़ोरदार मौसमी वर्षा हुआ करती थी। और सम्भाव्यत: यह कहना भी सही है कि डिवोनी युग में पृथ्वी की हलचलें उतनी ही प्रचंड थीं, जितनी कि वे प्राक्-कैम्ब्रियन काल की समाप्ति के बाद से पृथ्वी के इतिहास के अन्य किसी भी काल में रही थीं। इस प्रकार की बात फॉसिलों को परिरक्षित रखने की दृष्टि से बिल्कुल ही उपयुक्त नहीं है और इसका परिणाम यह हुआ है कि डिवोनी कल्प के बहुत से पृष्ठ ऐसे हैं, जिन्हें पढ़ पाना आसान नहीं है।

फिर भी यह कल्प अतिशय महत्वपूर्ण था। पहली बात तो यह है कि स्थल पर होने वाले पौधे तेजी से फैल रहे थे। अब वे केवल समुद्र-तटों तक ही सीमित न रहे थे; वे सब जगह

पहुँच चुके थे और वायु-मण्डल को शुद्ध करने और उसे प्राणियों के लिए तैयार करने का अपना काम कर रहे थे। ये पौधे कैम्ब्रियन और सिल्यूरियन कल्प के निम्न कोटि के समुद्री घास-पातों की अपेक्षा जटिल भी कहीं अधिक थे। डिवोनी युग के अन्त में कुछ पौधे तो काफी उच्च स्तर तक विकसित हो गये थे वस्तुतः हमारे अपने पर्णांगों (फर्नों) और अश्वपुच्छों (हौर्सटेलों; एक पौधा) के पूर्वज थे। इतना अवश्य है कि उस समय तक भी रंगविरंगे फूल नहीं थे। फूलों वाले पौधे उपरि-पुराजीव की समाप्ति के वहुत समय बाद तक भी नहीं आये थे, और इसलिए गोंडवानालैंड का भू-दृश्य नीरस और रंगहीन रहा होगा, हालांकि वह जो कुछ था, वह भी उससे पहले कालों की वंजर चट्टानों की दृष्टि से तो बहुत वड़ा सुधार था।

किन्तु सवसे महत्वपूर्ण परिवर्तन समुद्र में हो रहे थे। ग्रैप्टो-

डिपनोअन और औस्ट्रैकोडैरस
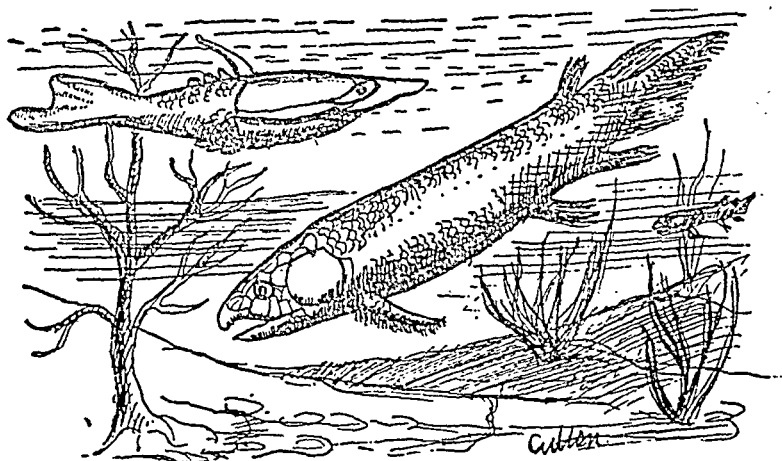
लाइट बिल्कुल लुप्त हो चुके थे और ट्राइलोबाइटों का मर कर समाप्त होना शुरू हो रहा था, किन्तु मेरुदंड वाले प्राणी कहीं अधिक सामान्य (आम) होते जा रहे थे। सिल्यूरियन काल के मत्स्य-सदृश रूप भू-वैज्ञानिक समय-मान की दृष्टि से बहुत तेज़ी से विकसित हो गये थे और डिवोनी कल्प के मध्य तक वे असली मत्स्य बन गये थे और सारे बड़े-बड़े महासागरों में दल बांध कर फिरते थे। इनमें शार्क मछलियां भी थीं, जो बाहरी आकार-प्रकार की दृष्टि से आजकल की शार्क मछलियों से बहुत भिन्न नहीं थीं। यह कहना अनावश्यक है कि इन भयावह नवागन्तुकों ने समुद्री बिच्छुओं और अभागे ट्राइलोबाइटों जैसे अपेक्षाकृत छोटे जीव-जन्तुओं का बहुत विनाश किया।

डिवोनी कल्प के अधिकांश मत्स्यों का वर्णन करते हुए उन्हें 'कवच पट्टीधारी' कहा गया है, जो ठीक ही है, और यह उनका बहुत बढ़िया वर्णन है। उदाहरण के लिए, कौक्कौस्टियस का शरीर पूरी तरह अस्थिमय पट्टियों से इस प्रकार ढका रहता था कि वह किसी भी शार्क के लिए दुष्पच ही भोजन सिद्ध होता होगा। दूसरी ओर, डिपनोअन, जो चित्र में दिखाया गया है, शल्कों से ढका होता था और देखने में हमारी आंखों को कहीं कम विचित्र जान पड़ता। उसके फेफड़े थे और पंखड़े (मछलियों के पंख) भी थे, जिनका प्रयोग यह पानी से बाहर भी हिलने-डुलने के लिए कर सकता था; इस प्रकार यदि कोई डिपनोअन दुर्भाग्यवश कहीं कीचड़ में फंस जाता, तो वह बहुधा रेंग कर फिर पानी में आ सकता था। इस प्रकार के मत्स्य असली वायु-श्वासी प्राणियों के अग्रदूत थे और सम्भाव्यतः

सर्वप्रथम स्थलचर प्राणियों का विकास इस प्रकार मत्स्यों से ही हुआ था।

डिवोनी कल्प के अधिकांश में समुद्रों में प्राणियों की भरमार थी, और इस काल को 'मत्स्य युग' कहा गया है। फिर भी यह कोई शान्तिपूर्ण काल नहीं था। जब तब, विशेष रूप से इसके अन्तिम दिनों में, अनावृष्टि के लम्बे-लम्बे समय आये, जब अपेक्षाकृत छोटे जलाशय सूख गये और उनमें रहने वाले अधिकांश मत्स्य मर गये। डिपनोअन, जिनके आरम्भिक फेफड़े थे, और जिनके कारण वे थोड़े समय तक पानी से बाहर रह सकते थे, उस समय अधिक अच्छी तरह गुज़ारा कर सके, जब परिस्थितियां सचमुच ही असुखकर हो उठीं, और उनके दूर के वंशज—उभश्वासी मीन (लंगफिश)—अब तक भी दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अमेरिका में पाये जा सकते हैं। इनसे भी अधिक प्रगतिशील मत्स्य वे थे, जिनके पंखड़े इस प्रकार के थे कि वे बाद में असली टांगों के रूप में विकसित हो गये। यह ठीक-ठीक किस प्रकार हुआ, यह रहस्य ही है, क्योंकि अभिलेख निराशाजनक रूप से अपूर्ण हैं, और प्राचीनतम ज्ञात स्थलचर प्राणियों के पहले से ही टाँगें और पैर थे; किन्तु किसी न किसी प्रकार यह हुआ अवश्य था। ये डिवोनी कल्प के मत्स्य मांसभोजी थे; वे अन्य मत्स्यों को खा कर जीते थे, और कालान्तर में उन्होंने भोजन की तलाश में अलग-अलग जलाशयों के बीच की कीचड़ को रेंग-रेंग कर पार करना सीख लिया होगा।

मत्स्यों को अवश्य ही पानी में रहना पड़ेगा और पशु समुद्र की सतह के नीचे सांस नहीं ले सकते। इन दोनों श्रेणियों

के बीच की कड़ी वे प्राणी हैं, जिन्हें जल-स्थलचर कहा जाता है, जैसे कि आजकल के मेंढक, भेक (एक प्रकार का मेंढक; टोड) और जल-गोधा (एक प्रकार की गोह) हैं। जल-स्थलचर प्राणी कभी भी स्थल प्रदेशों को जीत नहीं सके, क्योंकि वे अपनी पुरानी आदतों को, जैसे कि पानी में अण्डे देने को, कभी भी त्याग नहीं पाये, और इस प्रकार वे समुद्र तट के निकट ही रहने को विवश हैं; किन्तु जिस प्रकार मत्स्यों की कुछ जातियां विकसित हो कर जल-स्थलचर बन गईं, ठीक उसी प्रकार कुछ जल-स्थलचर विकसित हो कर पहले सरीसृप और उसके बाद स्तनपायी प्राणी बन गये। अन्तिम विचार की दृष्टि से डिवोनी कल्प में प्राणियों का रेंग कर समुद्र से बाहर आना ही सबसे महत्वपूर्ण कदम था।

फिर भी स्थल प्रदेश पर केवल जल-स्थलचर प्राणियों का ही एकाधिकार नहीं था। इस दौड़ में संभाव्यतः उन्हें 'आर्थोपौड' (यह नाम ज़रा भद्दा-सा अवश्य है) शाखा के एक खोलधारी प्राणियों ने हरा दिया था। वे मेरु-दंड-हीन प्राणी थे और उनसे आजकल के कीट बने हैं; पंख रहित कीटों का अविर्भाव डिवोनी कल्प की समाप्ति से पहले ही हो चुका था और इस समय हमें आरम्भिकतम मकड़ियाँ भी प्राप्त होती हैं, जो उन अभिप्रय, किन्तु लादायक प्राणियों की पूर्वज थीं, जो आजकल संसार भर में बहुत आमतौर से उपलब्ध हैं।

डिवोनी कल्प का समुद्र अवश्य ही एक बहुत मनोहर स्थान रहा होगा। उसमें सब प्रकार का समुद्री घास-पात उगता था; उसके साथ ही मूंगे की शैलभित्तियाँ (रीफ) होती थीं और बहुत ही क्षुद्र प्राणी, जैसे स्टोन लिली, जो स्टारफिशों के दूर

के सम्बन्धी हैं, उसमें होते थे । कवच-पट्टी युक्त मत्स्य आदिम शार्कों में मिले-जुले फिरते थे और ट्राइलोबाइट अब भी सुनिश्चित मृत्यु के विरुद्ध अपनी आशाहीन लड़ाई जी-जान से लड़ रहे थे । इसके प्रतिकूल, स्थल प्रदेश अब तक भी लगभग संघर्षरहित थे । अगले युग, महान कोयला वनों के युग, का आरम्भ होने के बाद ही हमारा ध्यान महासागरों से हट कर महाद्वीपों की ओर जाता है ।

अध्याय छह

कोयला वन

जैसा कि हमें ज्ञात है, कार्बन ६२ तत्त्वों में से एक है, और यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा पदार्थ है, जिसके परमाणु में जीवित पदार्थों को बना सकने की शक्ति है। परन्तु यह समझना सही नहीं होगा कि कार्बन का सम्वन्ध केवल पौधों और प्राणियों से ही है। पत्थर के कोयले का डला मुख्यतया कार्वन ही होता है; यही हाल हीरे का भी है। वस्तुत: यह तत्त्व अनेक प्रकार के विविध रूप धारण कर सकता है।

डिवोनी कल्प की समाप्ति के वाद आनेवाले काल को कार्वन कल्प कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जिस पत्थर के कोयले का हम आज ईंधन के रूप में उपयोग करते हैं, उसका बड़ा भाग इसी काल में भूमि में भरा गया था। यह कल्प ५.५ करोड़ वर्षों का रहा। यह अव से २७.५ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ और अब से २२ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हो गया। इसे सामान्यतया दो भागों में बांटा जाता है—निम्न (अबसे २७.५ करोड़ से लेकर २५.५ करोड़ वर्ष पहले तक) और उपरि (२५.५ करोड़ वर्ष से २२ करोड़ वर्ष पहले तक)।

जिस प्रकार डिवोनी कल्प मत्स्य-युग था, ठीक उसी

प्रकार कार्बन कल्प को 'जल स्थलचरों का युग' कहा गया है। कवच-पट्टी युक्त मत्स्य इस काल में संसार के सबसे विकसित प्राणी न रहे। वे विचित्र प्राणी, जो पहले पहल रेंग कर समुद्र से बाहर कीचड़ पर आ गये थे, अब स्थल प्रदेशों पर अधिकार कर रहे थे और वे हर पीढ़ी में अधिक दबंग और अधिक साहसप्रिय होते जाते थे।

डिवोनी कल्प में पृथ्वी की बड़ी-बड़ी हलचलों के फल-स्वरूप स्वयं स्थल प्रदेशों में भी परिवर्तन हो गया था। गोंडवानालैंड अब भी अवश्य था। और प्रशान्त तथा औस्ट्रल महासागर भी थे; किन्तु पौडीसौन और रैडलिशिया का मिल कर टैथिस समुद्र बन जाना इस समय पूरा हो चुका था और यह टैथिस तब, जहां आधुनिक न्यूफाउंडलैंड है, वहाँ से ले कर सीधा पूर्व की ओर फैला हुआ था और इसने ब्रिटेन, स्पेन, यूनान और उत्तरी अफ्रीका के कुछ भाग को ढका हुआ था और उससे आगे यह एक संकरी पट्टी के रूप में एशिया के आर-पार फैला हुआ था। इसके उत्तर की ओर दो बड़े स्थल प्रदेश थे; लौरैंशिया, जो आधुनिक स्कैंडिनेविया, ग्रीनलैंड और कनाडा के हडसन खाड़ी वाले प्रदेश में फैला हुआ था; और अंगारालैंड, जब कि एक चौथा महाद्वीप कैथेशिया उस स्थान पर था, जहाँ अब हमारे अपने पूर्वी इंडीज़ हैं। दक्षिणी ध्रुव महाद्वीप अब की भांति तब भी दूर दक्षिण की ओर था।

सामान्यतया निम्न कार्बन कल्प के स्थल प्रदेश झुलसे हुए और शुष्क थे। लौरैंशिया और अंगारालैंड के कुछ भाग इसके अपवाद रहे हो सकते हैं, किन्तु विशाल महाद्वीप
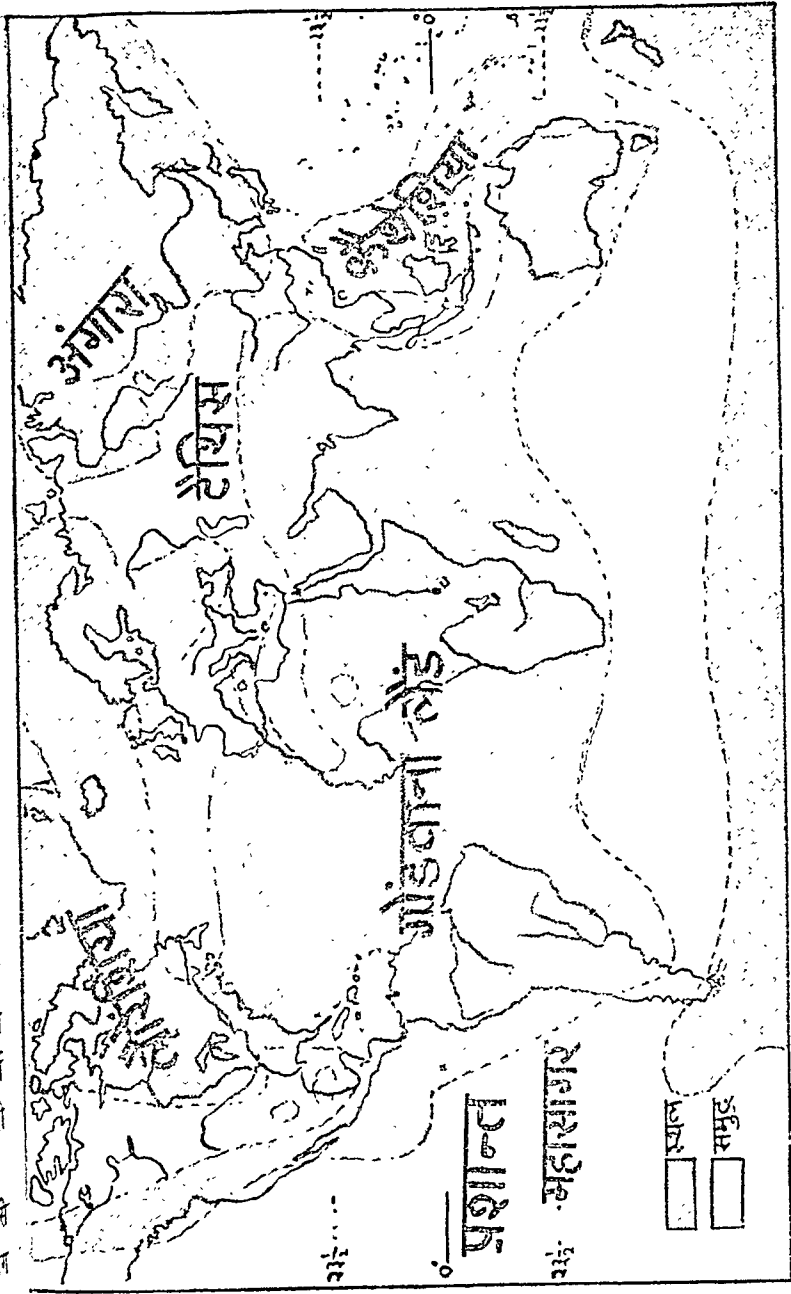
संसार का मानचित्र-कार्बन कल्प । इसमें तथा अन्य मानचित्रों में अतीत के स्थल प्रदेश और समुद्र आधुनिक मानचित्र को पृष्ठभूमि में रखकर दिखाये गये हैं ।

गोंडवानालैंड का भीतरी प्रदेश निश्चित रूप से अब तक भी सबसे अधिक प्रतिकूल था। पौधों की वृद्धि हुई और उनका प्रसार हुआ; इस सारे समय में वे पहले की अपेक्षा ऊँचे और अधिक पत्तेदार होते गये और वायुमंडल को दम घोंटने वाली कार्बन डाइऑक्साइड से मुक्त करके स्वच्छ करते गये, किन्तु जल-स्थलचरों को विकसित होने में वहुत समय लगा, हालांकि वे अब अपने मत्स्य-सदृश पूर्वजों से बहुत भिन्न हो गये थे; और उनमें से अधिकांश छोटे प्राणी थे, जो एक फुट से अधिक लम्बे नहीं थे। कार्वन कल्प का एक जल-स्थलचर, जिसका भद्दा सा नाम 'इक्थ्योस्टैगैलियन' था, यहाँ चित्र में दिखाया गया है। यह देखने में अवश्य ही गोह जैसा लगता होगा—यद्यपि यह उससे वहुत भिन्न था—और यह अपना अधिक समय पानी के अन्दर बिताता था, जबकि इसकी पूंछ अभी तक भी मछली की सी ही थी।

कार्बन कल्प के समुद्र उससे पहले के कालों से वहुत भिन्न नहीं थे। अभी तक भी वहुत वड़ी मात्रा में स्वच्छ और उथला जल विद्यमान था, जो सव प्रकार के वानस्पतिक और समुद्री जीवन का पोषण कर रहा था। इस काल में विचित्र स्टोन लिली प्रचुर संख्या में थे और अभी तक कुछ थोड़े से ट्राइलोवाइट भी वचे हुए थे। इस समय हमें वैलैरोफौन अर्थात् तैरने वाले घोंघे भी मिलते हैं, जो इसके वाद और पाँच करोड़ वर्षों तक वचे रहे। असली मत्स्यों में शार्क सवसे अधिक भय की वस्तु थे और वहुत सी कवच-पट्टी युक्त किस्मों का स्थान अपेक्षाकृत आधुनिक ढंग के मत्स्यों ने ले लिया था, जिनके शरीर शल्कों से ढंके होते थे।

इक्थ्योस्टैगलियन

डिवोनी कल्प की उथल-पुथल की समाप्ति के वाद जो शान्ति आई थी, वह सदा नहीं वनीं रह सकती थी। अब से लगभग २५.५ करोड़ वर्ष पहले, नई उथल-पुथल शुरू हो गई और उनके परिणामस्वरूप पृथ्वी के उत्तरी भाग के कुछ उथले समुद्र नीचे दलदली स्थल प्रदेशों में वदल गये। कुल मिलाकर उत्तरी गोलार्ध अब भी हल्का गर्म था, और यहाँ तक कि हमें उत्तर ध्रुव वृत में आधुनिक स्पिट्ज़ावर्गन के निकट मूँगे की शैलभित्तियाँ भी मिलती हैं; किन्तु हमारे आजकल के यूरोप का प्रदेश, जिसका कुछ भाग उस समय लौरैंशिया और कुछ भाग टैथिस समुद्र ने घेरा हुआ था, निश्चित रूप से उष्ण-कटिबन्धीय था। ऐसी दशा में, हमें वे कोयले के वन, जिसके आधार पर इस सारे काल का नाम पड़ा है, उत्तर की ओर के प्रदेशों में मिलते हैं।

समान्यतया जो कुछ हुआ, वह यह था कि वढ़ती हुई वनस्पतियां दलदली क्षेत्रों की ओर फैलीं। जव ऊंचे-ऊंचे पेड़ मर जाते, तव उनके अवशेष दलदलों में गिर पड़ते। वहां पड़े-पड़े वे 'पीट' (वनस्पति का पानी में सड़ा हुआ अंश, दलदली कोयला) बन जाते-जिन स्थानों में जलाने को और कोई बढ़िया चीज़ नहीं मिलती, जैसे कि आयरलैंड में, वहां यह पीट अब भी ईंधन के रूप में प्रयुक्त होता है। 'पीट' उस वानस्पतिक पदार्थ से वना होता है, जो पूरी तरह सड़ा नहीं होता। कभी-कदास दलदली भूमि और नीचे को बैठ जाती; तव वहां नया ताज़ा या खारी पानी भर जाता और इस प्रकार एक नई झील, या स्थल-मध्यवर्ती समुद्र बन जाता, जिसमें फिर साधारण रीति से तलछट जमते जा सकते थे। ज्यों-ज्यों समय वीतता

गया, त्यों-त्यों अधिकाधिक तलछट पीट के ऊपर जमते गये और उसे दवाते गये और उन्होंने उसे असली पत्थर के कोयले के रूप में वदल दिया।

इसमें चौंकाने वाली वात कुछ भी नहीं है। ऊष्मा और दवाव पदार्थ पर वहुत अधिक प्रभाव डाल सकते हैं; स्मरण कीजिये कि मिट्टी किस प्रकार ईंट के रूप में वदल जाती है और ज्वालामुखीय शैल कायान्तरित शैल के रूप में। उपरि-कार्बन कल्प के ३.५ करोड़ वर्षों में कोयले के वनने की यह प्रक्रिया वार-वार दुहराई गई, जिससे अन्त में जो तहें तैयार हुईं, वे वहुत ही अधिक मोटी थीं। उदाहरण के लिए, व्रिटेन के कुछ भागों में इनकी गहराई दस हज़ार फुट है। अपेक्षाकृत आधुनिक समय में ही इस कोयले की खोज की गई है, इसे खानों में से निकाला गया है और घरों को गर्म रखने तथा मशीनों को चलाने के लिए इसका उपयोग किया गया है।

एक चिन्ताजनक विचार हमारे मन में आता है। कोयले की विशाल मात्राएं उपरि-कार्बन कल्प में पृथ्वी में भरी गई थीं और यह कहना अनावश्यक है कि कोयला अन्य कालों में भी वना; परन्तु यदि हम अपनी वर्तमान चाल से इस कोयले को खानों में से निकालते रहे, तो अन्त में हम अवश्य ही इस सव को प्रयोग में लाकर समाप्त कर डालेंगे। इस वात का कोई तात्कालिक खतरा नहीं है, क्योंकि पृथ्वी में गड़ा हुआ कोयला इतना काफी है कि उससे हमारा अभी और कई हजार वर्षों तक काम चल सकता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मानव जाति अभी क़रोड़ों वर्षों तक रहेगी (यदि हम ही परमाणु युद्ध द्वारा स्वयं को नष्ट न कर डालें) और देर, सवेर कोयले

कोयले के वनों का दृश्य

की इस समस्या का सामना करना ही पड़ेगा। इसका स्पष्ट समाधान यह है कि परमाणु ऊर्जा का उपयोग किया जाये, जिसके विषय में हाल के दिनों में हमने इतना काफी कुछ सुना है; और सुदूर भविष्य में परमाणु ऊर्जा का उपयोग न केवल सुविधाजनक होगा, अपितु नितान्त आवश्यक भी होगा।

क्योंकि संसार का लगभग आधा कोयला उपरि-कार्बन कल्प में बना था, इसलिए यह स्पष्ट है कि उस समय बहुत अधिक वनस्पतियाँ रही होंगी। दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि 'कोयले के वन' असली वृक्षों से नहीं बने थे। 'वृक्ष' पौधे का कहीं अधिक उन्नततर रूप है और यह रूप उस समय तक प्रकट नहीं हुआ था। कोयले के वन मुख्यतया विशाल अश्वपुच्छों (हौर्सटेल), फर्नों और मृग-शृंगशैवाल (क्लब-मौस) से बने थे, जिनमें से कुछ तो सौ फुट तक ऊंचे थे। विशेष रूप से अधिक संख्या में लैपिडौडैंड्रन होते थे; वे आकाश तक उठे होते थे और उनके शाखित तने दूर से दिखाई पड़ते थे, जिनकी शाखाएं लम्बी, संकरी पत्तियों से ढकी होती थीं। इन दैत्यकाय वृक्षों की छाया में कैलैमाइटों जैसे अपेक्षाकृत छोटे पौधे उगते थे। सच तो यह है कि आधुनिक अश्वपुच्छ (हौर्सटेल) का पूर्वज एक कैलैमाइट ही था और उसकी ऊंचाई लगभग बीस फुट तक होती थी। इनके नीचे फिर हमारे फर्नों के अग्रदूत उगे रहते थे।

कुल मिला कर 'कोयले का वन' एक नीरस-सा स्थान रहा होगा। दृश्य को उज्जवल बनाने के लिए वहां कोई भी रंगीन फूल नहीं होते थे; कोई फल भी उसमें नहीं होते थे, इससे प्रत्येक वस्तु धूसर, हरी या भूरे रंग की होती होगी।

सूर्य की धूप पृथ्वी तक नहीं पहुंच सकती होगी और वन का मध्य भाग स्थायी रूप से एक अर्ध-प्रकाश में डूबा रहता होगा जो हमारे अपने संसार के घने-से-घने जंगल की छाया की अपेक्षा भी कहीं अधिक धुँधला होता होगा। उस समय किसी प्रकार की घासें भी नहीं थीं; ये सब भी तब भविष्य की वस्तुएं थीं।

फिर भी 'कोयले के वन' एकदम उजाड़ (प्राणी रहित) नहीं थे। कुछ आरम्भिक कीट उड़ना सीख गये थे; संभाव्यतः वे वृक्ष-सदृश पौधों के ऊपर चढ़ कर हवा में कूद पड़ते थे और अपने स्थिर पंखों के सहारे, जो उनके शरीर से बाहर की ओर निकले रहते थे, कुछ दूर तक हवा में उतराते रहते थे। उपरि-कार्बन काल तक असली पंखों वाले कीट प्रकट हो चुके थे। वे आजकल के कीटों से भिन्न नहीं थे और उनमें से कुछ झींगुरों और टिड्डों से इतने अधिक मिलते-जुलते थे कि गत बीस करोड़ वर्षों में कीट जीवन बहुत विकसित नहीं हुआ है, इसके लिए बहुत से लोग बहुत ही कृतज्ञ होंगे।

'कोयले के वनों' के कीटों में सबसे अधिक आकर्षक व्याध पतंग (ड्रैगन फ्लाई) थे, जो हमारे आजकल के व्याध पतंगों से बहुत बड़े होते थे। उनमें जो सबसे बड़े थे, उनके पंखों का फैलाव दो फुट से भी अधिक होता था। इस प्रकार जब वे उन घने और छाया भरे वनों में भनभनाते हुए उड़ते थे, तब वे उन नीरस वनों में कुछ शोभा और सौन्दर्य भर देते थे।

इन कोयले के वनों का वर्णन समाप्त करने से पहले एक और तथ्य बतला देना आवश्यक है। इस सारी ही अवधि में

उभयचर प्राणी तो खूब पनपे ही थे, किन्तु इसकी समाप्ति से ठीक पहले एक नये प्रकार के प्राणी प्रकट हो गये थे। वे छोटे थे और विरल (संख्या में कम) थे, किन्तु वे एक भिन्न नमूने पर बने थे। वे अपने अंडे समुद्र में न देकर स्थल पर देते थे और इस प्रकार वे अपना सारा समय जल से दूर बिता पाने में समर्थ थे; वे वस्तुतः स्थलीय प्राणी थे–सर्वप्रथम सरीसृप। अगले पन्द्रह करोड़ वर्षों तक उनके वंशज इस संसार पर राज्य करते रहे, जब कि जल-स्थलचर प्राणियों का महत्व कम होता गया; यहां तक कि घटते-घटते वे क्षुद्र मेंढकों, भेकों और जल-गोधाओं के रूप में ही रह गये।

यह सारा विकास पृथ्वी की भूमध्य रेखा के उत्तर में हो रहा था। लेकिन भूमध्य रेखा के दक्षिण में स्थिति बहुत भिन्न थी। क्योंकि इस समय दक्षिणी गोलार्ध का इतना बड़ा भाग जल से भरा हुआ है कि वहां हम शैलों का अन्वेषण उतना अच्छी प्रकार नहीं कर सकते, जितना कि हम स्थल प्रदेशों में कर सकते हैं, और इसलिए हमारे अभिलेख अवश्य ही अपूर्ण होंगे; किन्तु ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि कोयला-काल में आस्ट्रेलिया में, जो उस समय गोंडवानालैंड का भाग था, बड़े-बड़े ज्वालामुखी फटते रहे होंगे। गोंडवानालैंड के अन्य भाग निश्चित रूप से अतिशीत रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि अपेक्षाकृत ऊंचे प्रदेशों में हिमच्छद (हिमक्षत्र) विद्यमान थे और यह जानना मनोरंजक होगा कि उपरि-कार्बन काल में दक्षिण में या तो कोयला बना ही नहीं; और बना भी तो नहीं के बराबर, जिससे स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि वहाँ का जलवायु अपेक्षाकृत बहुत ठंडा था।

हम अपनी पुस्तक के पुराजीव (पैलियोज़ोइक) अध्याय, 'प्राचीन जीवन के अध्याय' की समाप्ति के निकट पहुँच रहे हैं। इसमें अब केवल एक कल्प और बाकी है; इसे 'पर्मियन कल्प' कहा जाता है, क्योंकि इस काल के शैल रूस के प्रान्त पर्म में बहुत अच्छे रूप में दिखाई पड़े हैं। यह काल २.५ करोड़ वर्षों का था। यह अबसे २२ करोड़ वर्ष पहले से शुरू हो कर अबसे १६.५ करोड़ वर्ष पहले तक बना रहा। यह पृथ्वी के वास्तविक "प्राचीन और "मध्य युग" को जोड़ने वाली बीच की कड़ी है।

पर्मियन कल्प में जलवायु बहुत उग्र रहे थे। कुछ उत्तरी महाद्वीपों का बड़ा भाग मरुस्थल था, जब कि अन्य क्षेत्रों में अब भी नमी और दलदल थी, जिससे कोयले का बनना जारी रहा। लेकिन दक्षिण में—विशेष रूप से गोंडवानालैंड के अधिकांश में—यह काल प्रचंड शीत का काल था। दक्षिण में तो वस्तुतः हिम युग की सी स्थिति थी। इसका कारण अभी तक निश्चित तो नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गोंडवा-नालैंड के ऊँचे पठार हिम की चादर और बड़े-बड़े हिम खंडों से, जिन्हें हिमनद कहा जाता है, ढके हुए थे।

दो घटनाएँ पर्मियन कल्प को अन्य कालों से अलग दर्शा देती हैं। एक तो विशेष महत्वपूर्ण घटना है कीटों का प्रसार। संख्या में अधिक प्रचुर होने के साथ-साथ ये कीट हमारे युग के कीटों के इतने अधिक समान हो गये कि यदि पर्मियन कल्प का कोई भृंग एकाएक आज के इंग्लैंड के किसी उद्यान में आ प्रकट हो, तो उससे किसी को कोई विस्मय न होगा, जब कि यदि पर्मियन युग का पैरियासौरस जैसा कोई नौ फुट लम्बा

सरीसृप, जिसके अंग (हाथ-पैर) बड़े-बड़े और सिर विचित्र आकृति का होता था, एकाएक दिखाई पड़ जाये, तो वह बहुत ही विस्मय की वस्तु होगा।

दूसरी घटना समुद्र में घटित हुई। वे ट्राइलोबाइट, जो किसी समय पृथ्वी पर सबसे अधिक विकसित प्राणी रहे थे, अब अन्त में अपने आशाहीन संघर्ष को छोड़ बैठे और इस प्रकार समाप्त हो गये कि उनका कोई वंशज तक उनके पीछे न रहा।

अवश्य ही सारी की सारी ट्राइलोबाइट जाति एक साथ नहीं मर गई। वे कोयला-वनों की सारी ही अवधि में धीरे-धीरे मर कर समाप्त होते रहे थे, किन्तु पर्मियन कल्प के आरम्भ तक तो वे फिर भी हमें प्राप्त होते हैं, पर उसकी समाप्ति से पहले ही वे पूर्णतया लुप्त हो चुके थे। शायद उनमें से कुछ समुद्र के जल को, जो अब सुखद नहीं रहा था, त्याग कर बाहर आने में समर्थ हो गये थे, और स्थल पर रहने लगे थे और धीरे-धीरे ऐसे कीटों के रूप में बदल गये थे, जिन्हें उनके पहले रूप में पहचाना ही नहीं जा सकता था; हालाँकि हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है; शायद वे 'प्रकृति की कहानी' में केवल अपना भाग पूरा करने ही आये थे। चाहे जो हो, किन्तु अब वे जा चुके थे और उनका यह प्रस्थान 'प्राचीन जगत्' की समाप्ति का सूचक-चिह्न प्रतीत होता है।

अध्याय सात

विशाल सरीसृप

वास्तविक प्राचीन काल की समाप्ति तक, कम से कम महाद्वीप संघर्षरहित स्थान रहे थे। विभिन्न प्रकार के प्राणियों में कुछ मात्रा में तो लड़ाई अवश्य होती रही होगी, किन्तु न तो जल-स्थलचर और न पर्मियन कल्प के छोटे-छोटे सरीसृप ही दुर्दान्त प्राणी थे। केवल समुद्र में ही, जीवित बचे रहने के लिए संघर्ष प्रचंड रहा था।

पृथ्वी के इतिहास के अगले चरण, मध्य या 'मध्य जीव महाकल्प', में यह चित्र बहुत ही भिन्न रहा। इस काल में जो दैत्यकाय प्राणी पाये जाते थे, उनमें से कुछ तो बहुत ही अद्‌भुत थे और वे किसी भी समय जीवित रहे प्राणियों में सबसे अधिक डरावने थे। सच कहा जाये, तो मध्य जीव काल 'दैत्यकाय प्राणियों का युग' था और विशालकाय, किन्तु लगभग मस्तिष्कहीन सरीसृपों का इस संसार पर राज्य था।

यद्यपि ये प्राणी अब से सात करोड़ से भी अधिक वर्ष पहले मर कर समाप्त हो चुके थे, फिर भी वे अपने चिह्न छोड़ गये हैं। उनके फ़ॉसिल (प्रस्तरीभूत) अवशेष प्रचुर मात्रा में मिले हैं, और वैज्ञानिकों ने टुकड़ों को जोड़-जोड़ कर सैकड़ों अस्थिपंजर पूरे बना लिए हैं, जिससे हमें न केवल यह पता चल गया है कि ये दैत्यकाय प्राणी देखने में कैसे लगते थे, अपितु यह भी कि वे किस प्रकार खाते और आचरण करते थे। इनमें

से कुछ, जैसे कि पत्ते खाने वाला विशालकाय इग्वैनोडोन, हानि नहीं पहुँचाते थे; किन्तु कुछ अन्य, जैसे कि मांसभोजी डाइनोसौर, इस पृथ्वी तल पर उत्पन्न हुए सबसे भयावह हिंस्र पशु थे।

मध्य जीव महाकल्प को तीन कल्पों में विभक्त किया गया है: ट्रियैसिक (अब से १९·५ करोड़ से लेकर १७ करोड़ वर्ष पहले तक), जुरैसिक (१७ करोड़ से १४ करोड़ वर्ष पहले तक) और क्रिटैशस (१४ करोड़ से ७ करोड़ वर्ष पहले तक)। इनमें से पहला नाम, 'तीन' के लिए लैटिन भाषा में जो शब्द है, उससे बना है, क्योंकि जर्मनी में शैलों का निकाय तिहरा है। 'जुरैसिक' नाम 'जूरा' पर्वत के कारण पड़ा है, जहाँ इस काल के निक्षेप भली-भाँति दिखाई पड़ते हैं। 'क्रिटैशस' नाम लैटिन शब्द 'क्रिटा' से बना है (जिसका अर्थ खड़िया मिट्टी है), क्योंकि इस काल में ब्रिटेन में तथा अन्य स्थानों पर खड़िया मिट्टी के बहुत मोटे निक्षेप जमे थे।

इन तीन कालों में से 'क्रिटैशस' अन्य कालों की अपेक्षा कहीं अधिक लम्बा था। यह सरीसृपों के लिए सच्चा स्वर्ग था और इस बात का कारण बता पाना आसान नहीं है कि इसकी समाप्ति के आसपास वे भीमकाय प्राणी एकाएक लुप्त क्यों हो गये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे सारे समय-मान की गति अब तेज़ होती जा रही है। मध्य जीव महाकल्प में सरीसृप छोटे-छोटे रेंगने वाले प्राणियों से बदल कर विशाल दैत्यकाय प्राणी बने और फिर मर कर समाप्त हो गये; फिर भी सम्पूर्ण मध्य जीव महाकल्प पुराजीव (पैलियोज़ोइक)

महाकल्प के कैम्ब्रियन और औडोंविशन कल्पों की सम्मिलित अवधि से बहुत छोटा है। अब जीवन इससे पहले के कालों की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से बदल रहा था।

स्वयं इन भीमकाय प्राणियों का वर्णन करने से पहले हमें कुछ क्षण के लिए पृथ्वी के बदलते हुए रूप पर दृष्टि डाल लेनी चाहिए। मध्य जीव महाकल्प के पहले कल्प ट्रियैसिक में, असुखकर जलवायु और प्रचंड उद्गार (विस्फोट) धीरे-धीरे शान्त हो गये, और स्थल प्रदेश इतने गर्म और शुष्क थे कि कोयले का बनना लगभग बन्द ही हो गया। इस काल के शैलों का रंग लाल होने के कारण इसे 'नया लाल बालुकाश्म' काल भी कहा जाने लगा था, किन्तु अब इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग लगभग बन्द ही हो गया है; इसके विपरीत डिवोनी कल्प के लिए 'पुराने लाल बालुकाश्म' शब्द का अभी तक प्रयोग होता है। गोंडवानालैंड, टैथिस तथा प्राचीन जगत् के अन्य अभिलक्षण (विशिष्ट लक्षण) लगभग ज्यों के त्यों थे, जब कि समुद्र कोष्ण (हल्के गर्म) थे और सारा हिमाच्छादन निश्चित रूप से समाप्त हो चुका था। ट्रियैसिक कल्प संभाव्यतः सिल्यूरियन कल्प के बाद, जो इससे १५ करोड़ वर्ष पहले था, सबसे शान्त काल था; इस कारण स्थलीय जीवन को विकसित होने का एक अवसर मिल गया।

ट्रियैसिक कल्प के अन्त में परिस्थितियाँ एक बार फिर पहले की अपेक्षा अधिक गीली हो उठीं। उथले समुद्र बहुत से नीचे स्थल प्रदेश पर फैल गये; और क्योंकि पर्मियन कल्प के विक्षोभों में उठे हुए अधिकांश पर्वत अधिकतर घिस कर फिर नीचे हो गये थे, इसलिए महाद्वीप सपाट और दलदलयुक्त

थे। ज्वालामुखियों के उद्‌गार उत्तर की ओर कभी-कभास ही होते थे, हालाँकि भूमध्य रेखा के दक्षिण की ओर वे आमतौर से होते रहते थे और सारी पृथ्वी सुखद रूप से कोष्ण (हल्की गर्म) थी। फिर भी बड़े-बड़े परिवर्तन अब होने को ही थे। जुरैसिक कल्प में विशाल गोंडवानालैंड महाद्वीप, जो शायद पृथ्वी की पपड़ी के पहले पहल कठोर होने के समय से ही विद्यमान चला आ रहा था, खंडित होना शुरू हो गया। शायद 'खंडित होना' शब्द का प्रयोग यहाँ गलत है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि वस्तुतः यह महाद्वीप फटा था; इसका कुछ भाग आधुनिक अमेरिका वन गया और एक अन्य भाग अफ्रीका-दक्षिणी यूरोपीय भूभाग बना। परन्तु कुल मिला कर इस बात की संभावना अधिक है कि यह घिस ही गया हो और पहले तो हल्के अपरदन द्वारा और बाद में ज्वालामुखी उद्‌गारों के कारण विक्षुब्ध हो गया हो। मध्य जीव महाकल्प की समाप्ति तक गोंडवानालैंड अपने पुराने रूप में शेष नहीं बचा था।

जुरैसिक कल्प के मध्य तक भी यह घिसते जाने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से शुरू हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थल की एक अपेक्षाकृत संकरी पट्टी मुख्य गोंडवानालैंड को उसके एक दूरस्थ विस्तार ऑस्ट्रेलिस—आधुनिक ऑस्ट्रेलिया—के साथ जोड़ती थी; किन्तु यह पट्टी ७ करोड़ से भी अधिक वर्ष पहले समुद्र के अन्दर डूब गयी थी और उस समय से आस्ट्रेलिया बिल्कुल अपने रूप में ही रहा है। इतना ही नहीं, टैथिस अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संकरा हो गया था और आधुनिक उत्तरी अमेरिका के बहुत बड़े भाग वाली जगह पर एक
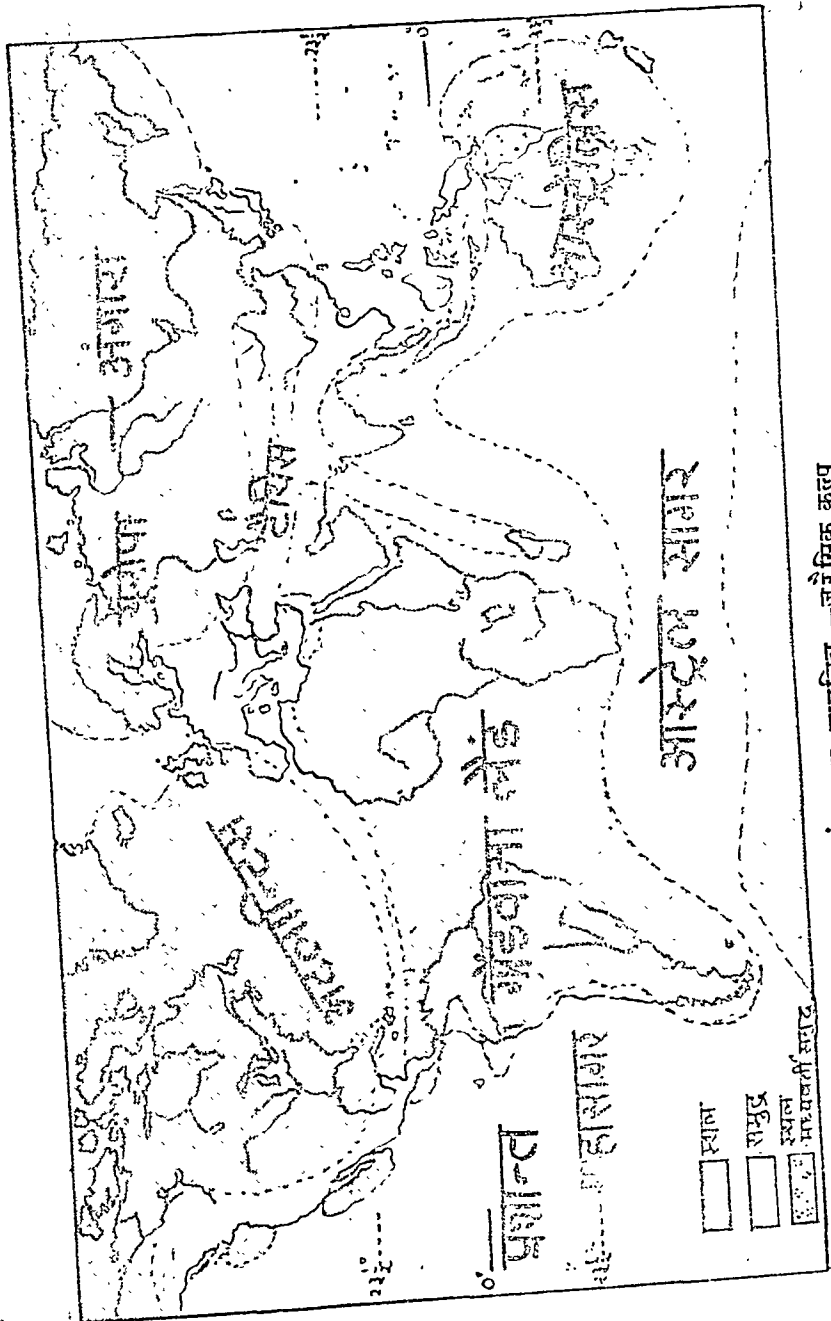
संसार का मानचित्र—जुरैसिक कल्प

भूखंड था, जिसे अटलान्टिस नाम दिया गया है।

अटलान्टिस की चर्चा अधिकांश लोगों ने सुनी है, परन्तु सत्य यह है कि उनमें से अधिकांश के मन में उसकी गलत धारणा है। एक प्राचीन अटलान्टिस के बारे में बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं, जो अतलान्तक महासागर में किसी स्थान पर था और वहाँ ऐसे लोग रहते थे, जिनमें विचित्र-विचित्र शक्तियाँ होती थीं और जो उड़ने वाले यंत्र (विमान) बनाना तक जानते थे। महान् यूनानी लेखक प्लेटो ने, जो ४०० ईसा पूर्व के आस पास हुआ था, अटलान्टिस और उसके निवासियों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है; और यदि हम उसकी कहानियों को सत्य मान लें, तो अटलान्टिसवासी अवश्य ही आश्चर्यजनक लोग रहे होंगे। इन कहानियों में बताया गया है कि अन्त में अटलान्टिस में एक भूकम्प आया और सूमचा महाद्वीप कुछ ही घंटों में समुद्र की सतह के नीचे लुप्त हो गया और जो भी जीव वहाँ रहते थे, वे सब के सब उसके साथ ही डूब गये।

इन सब कहानियों के लिए दुर्भाग्य की बात यह है कि भू-वैज्ञानिक लेश मात्र भी सन्देह के बिना यह बता सकते हैं कि इस 'अटलान्टिस' का कभी अस्तित्व था ही नहीं। प्लेटो के वर्णन को अक्षरशः सत्य मानने की आवश्यकता नहीं है, और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने केवल एक छोटे से द्वीप के, जिसका नाम 'अटलान्टी' था, समुद्र में डूब जाने का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है। यह द्वीप तब डूबा था, जब प्लेटो बालक ही था। अब भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो यह विश्वास करना चाहते हैं कि लाखों वर्ष पहले एक बहुत ही बढ़िया सभ्यता विद्यमान थी, किन्तु इसके पक्ष में कोई भी प्रमाण नहीं

है, जब कि इसके विपक्ष में बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं। असली अटलान्टिस इससे बहुत भिन्न स्थान था और वहाँ बुद्धिमान मनुष्यों के बजाय मस्तिष्कहीन सरीसृप निवास करते थे। इस अटलान्टिस का कुछ अंश इस समय उत्तरी अमेरिका के रूप में है और कुछ अंश सचमुच ही अतलान्तक महासागर के जल के नीचे लुप्त हो गया है—किन्तु इस प्रक्रिया में केवल एक दिन और एक रात न लग कर करोड़ों वर्ष लगे थे।

क्रिटैशस कल्प में, जो सात करोड़ वर्ष तक रहा, (यह अवधि ट्रियैसिक और जुरैसिक, दोनों की सम्मिलित अवधि से भी अधिक है) समुद्र अपने अधिकतम विस्तार तक पहुँच गये और उस समय पृथ्वी का इतना अधिक भाग महासागरों से भरा हुआ था कि उतना न तो उससे पहले ही कभी रहा था और न उसके बाद ही कभी रहा। जिन क्षेत्रों में स्थल भाग घिस कर नीचे हो गये थे, उनमें खड़िया मिट्टी बनी; उत्तरी महाद्वीप मुख्यतया कोष्ण और दलदलयुक्त थे, जिससे और अधिक कोयला भूमि में भरा गया, किन्तु एक बार फिर हमें दक्षिण में अपेक्षाकृत अधिक शीतल परिस्थितियों के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ तक संभव है कि दक्षिणी ध्रुव पर एक काफी बड़ा हिमच्छद विद्यमान रहा हो।

उस समय ब्रिटेन के द्वीपों की जो अवस्था थी, उस पर जरा निकट से दृष्टि डाल लेना मनोरंजक होगा। जुरैसिक कल्प में आयरलैंड, वेल्स, कौर्नवाल, नौरफोक और नौर्थम्बरलैंड तथा पूर्वी स्कॉटलैंड के कुछ भाग स्थल प्रदेश थे और शेष ब्रिटेन एक उथले समुद्र से ढका हुआ था; क्रिटैशस कल्प में महासागरों की महान् चढ़ाई के समय जहाँ तहाँ, विशेष रूप

से उत्तरी स्कॉटलैंड में, अलग-थलग पड़े छोटे-छोटे प्रदेशों को, छोड़कर सारा ब्रिटेन समुद्र-जल से ढका हुआ था। ब्रिटेन के द्वीप मध्य जीव महाकल्प की समाप्ति के बाद ही फिर समुद्र में से ऊपर उभर पाये ।

एक विचित्र बात यह हुई कि क्रिटैशस कल्प के पिछले भाग में स्थल भाग पर समुद्र की व्यापक चढ़ाई के कारण विशाल सरीसृपों में से कम-से-कम कुछ तो मर ही गये। वे लैगून (कच्छ) और दलदलें, जो उनके निवासस्थान थे, पानी से भर गये; और क्योंकि ये सरीसृप स्वयं को बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बदल पाने में समर्थ नहीं थे, इसलिए वे नष्ट हो गये। इतना अवश्य है कि उनके पतन का केवल एकमात्र कारण यह ही नहीं था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से उपादान (कारण) रहे, किन्तु इस जलप्लावन का भी उनके विनाश में निश्चित रूप से कुछ हाथ था।

मध्य जीव महाकल्प पौधों, मत्स्यों और कीटों के निरन्तर विकास का काल था। शायद सबसे उल्लेखनीय घटना 'ऐमोनाइटों' का अभ्युदय और पतन थी; ये ऐमोनाइट विचित्र, क्षुद्र प्राणी थे, जिनके जटिल कक्षमय खोल (कोश) होते थे। वे पहले पहल ट्रियैसिक कल्प में प्रकट हुए थे; जुरैसिक में बहुत सामान्य हो गये थे, और क्रिटैशस में वे मर कर समाप्त हो गये; इस प्रकार भू-वैज्ञानिक मान की दृष्टि से वे बहुत ही थोड़े समय तक रहे। इसलिए वे कुछ प्राचीन शैलों के तिथि-निर्धारण में हमें बहुत सहायता देते हैं। यदि हमें कहीं कोई ऐमोनाइट मिलता है, तो हम पूर्ण निश्चय के साथ कह सकते हैं कि वह मध्य जीव काल का है और १९.५ करोड़

वर्ष से कम, किन्तु ७ करोड़ वर्ष से अधिक पुराना है। इस काल के अन्य समुद्री प्राणी बैलैम्नाइट थे, जो कुछ-कुछ आज-कल के कटलफिशों जैसे दिखाई पड़ते होंगे। इस महाकल्प की समाप्ति तक वे भी समाप्त हो गये थे। धीरे-धीरे, किन्तु सुनिश्चित रूप से, पुराजीव (पैलियोज़ोइक) युग के कवच-पट्टी युक्त घुमक्कड़ मत्स्यों का स्थान उन मत्स्यों ने ले लिया था, जो आधुनिक मत्स्यों से विजातीय नहीं थे, केंकड़े, और लौब्स्टर (झींगा मछली) भी प्रकट हो चुके थे।

कीटों का विकास भी ठीक इतना ही स्पष्ट था। दैत्य-काय व्याध पतंग (ड्रैगन फ़्लाइ) का स्थान अपेक्षाकृत छोटे व्याध पतंगों ने, साधारण मक्खियों ने, टिड्डों और भृंगों ने ले लिया था। पौधों के जगत् में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहे, यहाँ तक कि क्रिटैशस कल्प के अन्त में भू-दृश्य फूलों, वृक्षों तथा अन्य ऐसी वनस्पतियों से सज उठा, जो कोयले के वनों के दैत्यकाय फर्नों और अश्वपुच्छों (हौर्स टेलों) से बहुत भिन्न थीं। केवल 'पशु' जीवन अभी तक भी वस्तुतः प्राचीन था। अब अन्त में, हमें उन विचित्र और भयावह प्राणियों, विशाल सरीसृपों, की ओर ध्यान देना चाहिए।

हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि किस प्रकार संसार के सर्वप्रथम प्राणी जल में प्रकट हुए और उन्होंने उसके करोड़ों वर्ष बाद ही रेंग कर स्थल पर आना शुरू किया। परन्तु सब प्राणी स्थल पर रहे नहीं। उनमें से कुछ वापस समुद्र में लौट गये और मध्यजीव महाकल्प के बिल्कुल आर-म्भिक भाग में, शायद उससे भी पहले, डरावने इक्थ्योसौरसों और प्लैसियोसौरों के पूर्वज अस्तित्व में आ चुके थे। इन

दोनों में से इक्थ्योसौरस अर्थात् मत्स्य-गोह जल में रहने के लिए अधिक उपयुक्त थे और वे सचमुच ही देखने में बड़े-बड़े
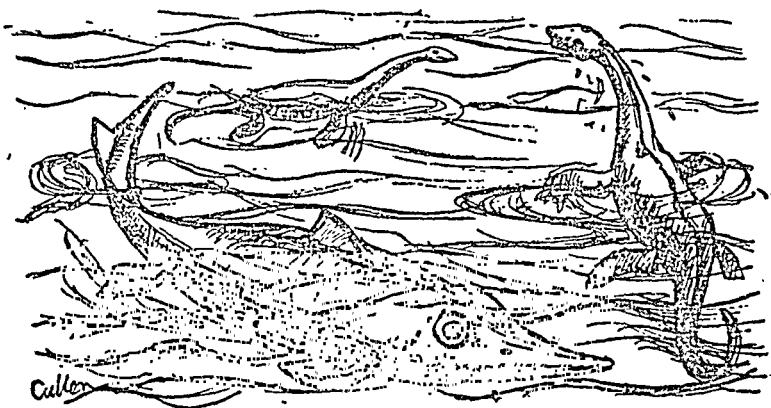
इक्थ्योसौरस तथा प्लैसियोसौर

जबड़ों वाले और तेज़ दाँतों वाले विशालकाय मत्स्यों से विजातीय नहीं लगते होंगे। इस परिवार के सबसे बड़े सदस्य जुरैसिक काल में फले-फूले, और वे लम्बाई में कम-से-कम ३० फुट के होते थे अर्थात् क्रिकेट के पिच से काफी अधिक लम्बे। इक्थ्योसौरस सचमुच सरीसृप थे; वे मत्स्य नहीं थे और वायु-श्वासी थे, इसलिए समुद्र की सतहों के निकट बने रहना अधिक पसन्द करते थे; परन्तु वे अपना सारा जीवन पानी में ही व्यतीत करते रहे और कभी भी रेंग कर स्थल प्रदेश पर नहीं आये। यहाँ दिये गये चित्र में दिखाया गया है कि जुरैसिक काल का इक्थ्योसौरस देखने में कैसा लगता होगा। प्रसंगवश, यह जानना मनोरंजक होगा कि इक्थ्योसौरस का पहला सही अस्थि-पंजर अब से कोई १२५ वर्ष पहले एक

ग्यारह वर्षीय लड़की मैरी ऐनिंग ने खोज निकाला था। यह मैरी ऐनिंग आगे चल कर प्राचीन जीवन के विषय में अपनी खोजों के कारण विश्वविख्यात हो गई।

इक्थ्योसौरसों जितने ही दुर्दान्त प्लैसियोसौर थे, किन्तु वे भिन्न नमूने पर बने थे। प्लैसियोसौर का सर्वोत्तम वर्णन यह कह कर किया गया है कि यह एक ऐसे "कछुए जैसा दिखाई पड़ता था, जिसके आरपार एक साँप पिरो दिया गया हो", और इसके टाँगें तक थीं, जिससे यह पता चलता था कि इसके पूर्वज स्थल पर रह चुके थे। ये टाँगें पानी से बाहर विशेष उपयोगी नहीं थीं, क्योंकि जब कोई प्लैसियोसौर समुद्र से निकल कर बाहर आता था, तब वह बहुत ही धीरे-धीरे और भद्दे ढंग से चल पाता था, किन्तु ये टाँगें इस प्राणी को पानी में गति करने में सहायता देने का बढ़िया साधन थीं। इसलिए प्लैसियोसौर समुद्र की सतह के निकट बने रहना अधिक पसन्द करते थे, किन्तु इक्थ्योसौरसों से उनमें यह अन्तर था कि वे प्रजनन के लिए तटों पर ही लौट जाते थे।

इक्थ्योसौरसों और प्लैसियोसौरों के अनेक भेद थे, और वे सब के सब हिंस्र और मांसभोजी थे। उन दिनों समुद्र बहुत संकट का स्थान रहा होगा और आधुनिक काल के व्हेल मत्स्य इन जैसे विकट शत्रुओं के मुकाबले में बहुत ही दयनीय रूप से असहाय रहे होंगे। शायद इक्थ्योसौरस और प्लैसियोसौर आपस में भी लड़ते थे; किन्तु उन्होंने अपेक्षाकृत छोटे समुद्री प्राणियों का तो भारी विनाश अवश्य ही किया होगा। कालान्तर में, ये दोनों ही मर कर समाप्त हो गये। इक्थ्योसौरस पहले समाप्त हुए, क्रिटैशस कल्प के मध्य में, और इस प्रकार

स्टैगोसौरस, ट्रिसैराटोप्स, इग्वैनोडोन

कुछ समय के लिए प्लैसियोसौरों का प्रभुत्व रहा; परन्तु मध्य जीव महाकल्प का अन्त होते-होते ये दोनों ही सदा के लिए लुप्त हो चुके थे ।

जिस प्रकार ये दैत्य समुद्रों पर राज्य करते थे, ठीक उसी प्रकार स्थलीय डाइनोसौरों का महाद्वीपों पर राज्य था। इतना अवश्य है कि डाइनोसौर विभिन्न प्रकार के थे । कुछ भले और हानि न पहुँचाने वाले थे । उदाहरण के लिए, ऐसा प्रतीत होता है कि तीन पादांगुलियों वाला इग्वैनोडोन वनस्पतियाँ खा कर जीवित रहता था । वह अधिकतर समय सीधी खड़ी स्थिति में रहा करता था और अपने अपेक्षाकृत छोटे 'अगले पैरों' का उपयोग अपने भोजन को चीरने-फाड़ने के लिए किया करता था । इसकी पहुँच काफी अधिक होती थी, क्योंकि अच्छा बड़ा इग्वैनोडोन पन्द्रह फुट ऊँचा और बीस फुट से अधिक लम्बा होता था । आजकल इस जैसा कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि छोटे पैमाने पर भी, दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए इसकी किसी के भी साथ तुलना (उपमा) नहीं की जा सकती, परन्तु यहाँ दिया गया चित्र संभाव्यतः सत्य के बहुत निकट है । इसकी पूँछ लम्बी होती थी और इस प्राणी को तैरने में सहायता देने में महत्वपूर्ण भाग अदा करती थी; सिर बड़ा, किन्तु संकीर्ण (पतला) होता था और चोंच दन्तहीन होती थी ।

आकार विशाल होने पर भी इग्वैनोडोन और उनके अन्य सजातीय प्राणी लगभग मस्तिष्करहित ही होते थे—वे बिल्ली के बच्चे से कहीं कम चतुर थे—और उन्हें अन्य इतने ही मूढ़, किन्तु अधिक हिंस्र डाइनोसौरों से निरन्तर खतरा बना रहता था । इग्वैनोडोन अपना बचाव कर पाने में बहुत कम समर्थ

थे, किन्तु अन्य हानि न पहुँचाने वाले प्राणी विचित्र ढंगों से अपनी रक्षा कर लेते थे। उदाहरण के लिए, स्टैगोसौरसों ने अपने आपको बहुत कुछ उसी प्रकार रक्षक कवच से ढक लिया था, जिस प्रकार आरम्भिक डिवोनी कल्प के मत्स्यों ने किया था और इसके नाम का ही अर्थ है--'पट्टिकायुक्त सरीसृप'। इसकी पीठ पर अस्थिमय पट्टियों की एक शृंखला सी बनी होती थी और इसकी मेरुदंडीय पूँछ का आवश्यकता पड़ने पर आत्मरक्षा के लिए उपयोग किया जा सकता था, क्योंकि इसकी चोट अवश्य ही लगभग मशीनी हथौड़े की चोट जितनी भीषण होती होगी। कुछ वैज्ञानिकों को इसमें सन्देह है कि स्टैगोसौरस का कवच शत्रुओं से उसके बचाव में विशेष उपयोगी होता होगा, फिर भी यह कुछ न होने से तो अच्छा ही था। स्टैगो-सौरस स्वयं तो उस प्रदेश में रहते थे, जो आजकल अमेरिका है, किन्तु इनके एक सम्बन्धी ब्रिटेन में पाये जाते थे, जिनकी पीठ इनकी पीठ जैसी ही पट्टिकायुक्त होती थी।

एक अन्य स-कवच डाइनोसौर ट्रिसैराटौप्स था, जो नौ फुट ऊँचा और पच्चीस फुट लम्बा होता था। उसके तीन लम्बे-लम्बे पैने सींग होते थे और जब उस पर कोई शत्रु आक्रमण करता था, तब उसका बचाव का तरीका सम्भाव्यतः यह होता था कि वह किसी चट्टान से पीठ अड़ा कर खड़ा हो जाता था और इस बात की प्रतीक्षा करता था कि उसका शत्रु सामने से आये और उसके सींगों की नोकों का मज़ा चख ले। ट्रिसैराटौप्स की खोपड़ी हाथी की खोपड़ी जितनी बड़ी होती थी, छह फुट से भी अधिक लम्बी, किन्तु उसका मस्तिष्क बहुत छोटा-सा होता था। उसकी पीठ पर भी एक ढाल

जैसी अस्थिमय संरचना होती थी, हालाँकि वह स्टैगोसौरस की कवच-पट्टिकाओं की अपेक्षा कम स्पष्ट होती थी। स्कौ-लोसौरस अर्थात् 'कण्टकी सरीसृप' की तो घुंडीदार पूँछ ही उसका एकमात्र शस्त्र रही प्रतीत होती है, और पहली दृष्टि में स्कौलोसौरस एक अतिविशाल स-कवच गोह से मिलता-जुलता दिखाई पड़ता होगा। प्रसंगवश, ट्रिसैराटौप्स को डाइ-नोसौरों में सबसे अन्तिम होने का गौरव प्राप्त है और वह क्रिटैशस कल्प के बिल्कुल अन्त में ही आ कर समाप्त हुआ।

इन स-कवच प्राणियों की अपेक्षा भी अधिक विलक्षण 'सौरोपौड' परिवार के डाइनोसौर थे; वे स्थल पर किसी भी काल में हुए सबसे विशाल प्राणी थे। उनमें से अधिकांश की खोपड़ियाँ छोटी, गर्दनें लम्बी-पतली और देह हाथी की देह से भी बड़ी, और पूँछें लम्बी, शुंडाकृति होती थीं। इनमें सबसे बड़ा 'डिप्लोडोकस' था, जिसकी सिर से लेकर पूँछ की नोक तक लम्बाई लगभग ९० फुट होती थी और भार तीस से चालीस टन तक होता था (पूरे बड़े अफ्रीकी हाथी का भार आठ टन होता है)। वस्तुतः डिप्लोडोकस इतना भारी और बेढंगा होता था कि उसे स्थल पर चलने में बहुत कठिनाई होती होगी—उसकी टाँगें इतने भारी शरीर को आसानी से नहीं संभाल सकती थीं—और इसलिए वह संभाव्यतः अपना अधिकांश समय दल-दलों में या उथले पानी में बिताता था और अपनी लम्बी गर्दन का उपयोग भोजन इकट्ठा करने के वास्ते अपने सिर को सब ओर घुमाने के लिए करता था। अपने निकट सम्बन्धी ब्रौंटोसौ-रस की भाँति यह भी वस्तुतः 'अनुपपन्न' (बेमेल) था, जो न तो स्थल के लिए और न समुद्र के लिए ही उपयुक्त था और इसमें
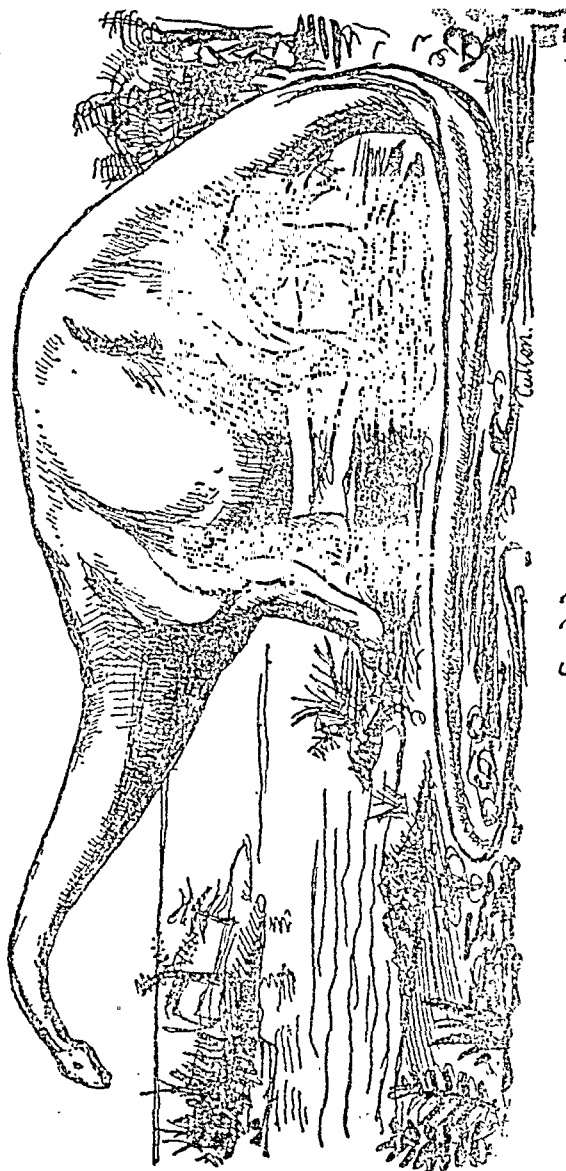
डिप्लोडोकस

कोई आश्चर्य नहीं कि यह मध्यजीव महाकल्प की समाप्ति से पहले ही मर कर समाप्त हो गया। उसका एक अन्य निकट सम्बन्धी सैटियोसौरस, अर्थात् 'व्हेल सरीसृप' था, जिसके कई अस्थि-पंजर इंगलैंड में पत्थर की खदानों में पाये गये हैं। इसकी लम्बाई पूरी साठ फुट थी और टांगें, डिप्लोडोकस की टांगों की भांति, पानी से बाहर होने पर उसके भार को मुश्किल से ही संभाल पाती थीं।

यह स्पष्ट है कि इन प्राणियों को बचे रहने में क्यों कठिनाई हुई। जैसा कि हमें मालूम है, स्थल और समुद्री प्रदेशों में सारे ही समय निरन्तर परिवर्तन होते रहे थे। यदि कोई एक प्रदेश डिप्लोडोकस या सैटियोसौरस के लिए अनुपयुक्त हो जाता, तो किसी अन्य उपयुक्त प्रदेश की खोज में वह इधर-उधर दूर तक नहीं जा सकता था—इसलिए वह मर जाता था। प्रकृति अपने असफल परीक्षणों पर कभी भी तनिक भी दया नहीं करती।

परन्तु यदि डिप्लोडोकस और उसके सजातीय हानि न पहुँचाने वाले, मन्दगामी, और भद्दे थे, तो अन्य डाइनोसौर इस प्रकार के बिल्कुल नहीं थे। वे मांसभोजी थे, मध्यजीव महाकल्प के असली स्वामी। उनमें से कई सीधे खड़े होकर चलते थे और उनमें से कुछ कंगारुओं की तरह बहुत तीव्र गति से छलांगें मार-मार कर चलते थे, जिससे वे आसानी से अपने अपेक्षाकृत मन्दगामी सम्बन्धियों का शिकार कर सकते थे। इस प्रकार का एक डाइनोसौर 'मैगालोसौरस' था; वह बीस फुट लम्बा होता था, और उसके क्रूरतापूर्ण पैने दांत और खतरनाक नखर (पंजे) होते थे। उससे भी अधिक

भयावह 'ऐल्लोसौरस' था, जिसकी लम्बाई उससे लगभग दुगनी होती थी और वह सम्भाव्यतः अधिक चुस्त भी था; उसके दांत इस प्रकार के थे कि वे हानिरहित डाइनोसौरों को चीर फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देने के लिए बहुत ही बढ़िया थे। किसी ऐल्लोसौरस और किसी पत्तियां खाने वाले डाइनोसौर, जैसे कि इग्वैनोडोन, के मध्य लड़ाई का केवल एक ही परिणाम हो सकता था। किन्तु मांस-भोजियों में सबसे बड़ा टिरैनोसौरस था, जिसकी खोपड़ी लम्बी होती थी। उसकी देह की लम्बाई पचास फुट थी और उसके दांत भी छह-छह इंच लम्बे थे; जब वह चलता था, तब उसका सिर किसी आधुनिक मकान की ऊपरली मंजिल की खिड़की जितना ऊँचा रहता होगा। पिछली टांगें मोटी और मजबूत होती थीं, किन्तु 'अगली टांगें', जो वस्तुतः कभी चलने के काम नहीं आती थीं (क्योंकि टिरैनोसौरस सीधे खड़े होकर चलते थे), बहुत ही बेहूदे ढंग से छोटी और सिकुड़ी हुई होती थीं। पर कुछ डाइनोसौर अपेक्षाकृत छोटे भी थे, जो गिलहरी जैसे चुस्त और बाघों से भी अधिक हिंस्र थे।

सरीसृप परिवारों में से एक दो ने, जो भयंकर मांस-भोजियों के साथ लड़ पाने की आशा नहीं कर सकते थे, अपनी रक्षा करने का एक नया उपाय खोज निकाला। उन्होंने वायु में शरण ली, जिसमें उस समय केवल कीट ही निवास करते थे। इन आरम्भिक उड़ाकों को एक सामान्य नाम 'टैरोडैक्टिल' दे दिया गया है, यद्यपि वस्तुतः वे कई प्रकार के थे। शुरू-शुरू में वे, सही सही अर्थ में, बिल्कुल ही नहीं 'उड़ते' थे। जिस प्रकार आरम्भिक कीटों के स्थिर पंख हुआ

ऐल्लोसौरस, डिप्लोडोकस और टैरोडैक्टिल

करते थे और वे वायु में केवल उतराया करते थे, ठीक उसी प्रकार टैरोडैक्टिलों ने ऊँचे स्थानों से कूदना और अपने चर्मिल पंखों द्वारा वायु में उतराना शुरू किया; इसमें वे बहुत कुछ आधुनिक ग्लाइडरों के ही ढंग से अपने आप को ऊपर उठाये रखने के लिए वायु की धाराओं से लाभ उठाते थे। उनके अस्थि-पंजर हल्के होते थे और साधारणतया उनके चर्मिल पंख देह की तुलना में बड़े होते थे। इस मामले में भी पहला सही नमूना मैरी ऐनिंग ने खोज निकाला था, हालांकि जिस समय उसने यह खोज की, उस समय—१८२८ में—वह बड़ी आयु की स्त्री थी। उसे जिस टैरोडैक्टिल के अवशेष मिले थे, उसे 'डाइमोर्फोडौन' नाम दिया गया है। यह ट्रियैसिक काल में जीवित था, और उन अपेक्षाकृत अच्छे उड़ने वाले प्राणियों के समान, जो इसके बाद आये, इसके भी जबड़ों में दाँत होते थे।

टैरोडैक्टिल कभी भी वस्तुतः भली भांति नहीं उड़ सकते थे, क्योंकि उनके चर्मिल पंख कार्यक्षम नहीं थे और उन्हें ठीक तरह झपका नहीं जा सकता था। कम से कम वे इतना ऊंचा उड़ सकते थे कि जिससे टिरैनोसौरस भी उन तक न पहुंच सके, पर वे लगातार बहुत समय तक उड़ते नहीं रह सकते थे और इसमें भी अत्यधिक संदेह है कि वे पृथ्वी-तल से उड़ान भर सकते थे या नहीं। अधिक सम्भाव्य यही है कि उन्हें सदा ही अपनी उड़ान किसी ऊंचे स्थान से ही शुरू करनी पड़ती थी। उपरी-जुरैसिक कल्प में प्राणियों के कम-से-कम एक परिवार ने, कम-से-कम अंशतः, इस रहस्य का हल खोज निकाला था। विचित्र बात यह है कि वे टैरोडैक्टिलों के वंशज

नहीं, अपितु असली डाइनोसौर पूर्वजों के वंशज प्रतीत होते हैं; ये पर (पिच्छ) वाले प्राणी थे, सबसे आरम्भिक पक्षी। इनमें सबसे गौरवपूर्ण स्थान 'आर्कियौप्टैरिक्स' को दिया जाना

आर्कियोप्टैरिक्स

चाहिए, जिसका चित्र यहाँ दिया गया है। क्योंकि इसके पर होते थे, इसलिए यह अवश्य ही टैरोडैक्टिलो की अपेक्षा अच्छा

उड़ने वाला रहा होगा, किन्तु यह अब भी अनेक दृष्टियों से सरीसृप ही था; उदाहरण के लिए, इसके जोड़-युक्त पूंछ होती थी, और इसके दाँत भी थे। दूसरी ओर, इसके पैर स्पष्टतः इस ढंग से बने थे कि उनके द्वारा ठीक पक्षियों के ढंग से टहनी पर बैठा जा सके। क्रिटैशस कल्प के अन्त में असली पक्षी प्रकट हो चुके थे और उनमें से कुछ, जैसे कि इचथ्योर्निस, बहुत ही अच्छी तरह उड़ सकते थे, हालांकि मध्यजीव महाकल्प के सभी पक्षियों में हमारे पक्षियों से यह अन्तर था कि उस समय तक भी उनके दांत होते थे।

स्थल, समुद्र और वायु में रहनेवाले ये प्राणी उन अनेक भीमकाय प्राणियों में से, जो मध्यजीव काल में प्रचुरता से पाये जाते थे, केवल कुछ थोड़े से हैं। अब हम समझ सकते हैं कि इसे 'सरीसृपों का युग' क्यों कहा जाता है; उस समय मनुष्य तक को, जिसका मस्तिष्क अधिक विकसित था, उन शत्रुओं के मध्य में जीवत बचे रहने के लिए भीषण युद्ध करना पड़ता, जो अपनी बुद्धि की कमी को अपने प्रचंड शारीरिक बल से पूरा कर लेते थे। किन्तु उस समय तक मनुष्य थे ही नहीं। असली पशु, स्तनपायी प्राणी, उपरि-जुरैसिक काल में उत्पन्न तो हो चुके थे, किन्तु उस समय तक वे क्षुद्र और अविकसित थे और सरीसृपों के जीवित रहते पृथ्वी के इतिहास में कोई वास्तविक भाग नहीं ले सकते थे। जब ये भीमकाय दानव समाप्त हो गये—वह भी आश्चर्यजनक रूप से एकाएक—उसके बाद ही स्तनपायियों का युग शुरू हुआ।

तो ये सरीसृप मर क्यों गये? आपस में ही एक दूसरे

अध्याय आठ

स्तनपायी प्राणियों का युग

पृथ्वी के लम्बे इतिहास में जितने भी परिवर्तन हुए हैं, उनमें से कोई भी इतना एकाएक या इतना पूर्ण नहीं हुआ, जितना कि मध्यजीव युग की समाप्ति पर हुआ परिवर्तन था। हमारे नित्य प्रति के समय-मान की दृष्टि से यह अवश्य मन्द था, किन्तु भू-वैज्ञानिक दृष्टि से यह वहुत ही द्रुत था। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ थोड़े से दशलक्ष (दस लाख) वर्षों में ऐमोनाइट और भयंकर डाइनोसौर जैसे प्राणी पृथ्वीतल से हट गये; यह लगभग ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई श्याम-पट्ट पर चाक से लिखे अक्षर पोंछ कर मिटा दे। यह कहना अनावश्यक है कि यह मध्यजीव महाकल्प की समाप्ति का सूचक चिह्न है। इससे अगला युग 'तृतीय महाकल्प' (टर्शि-यरी) है और यह चार अनुभागों में विभक्त है, जिनमें से पहला 'आदि नूतन' (ईओसीन) है।

'ईओसीन' शब्द यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'नूतन (जीवन) की उषा'। यह कल्प २.५ करोड़ वर्षों तक रहा। यह अब से ७ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ और अबसे ४.५ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हो गया, और यह उससे अधिक उत्पातपूर्ण रहा, जितना कि क्रिटैशस का अधिक भाग रहा था।

यह महान परिवर्तन किस-किस सीमा तक हुआ था, यह
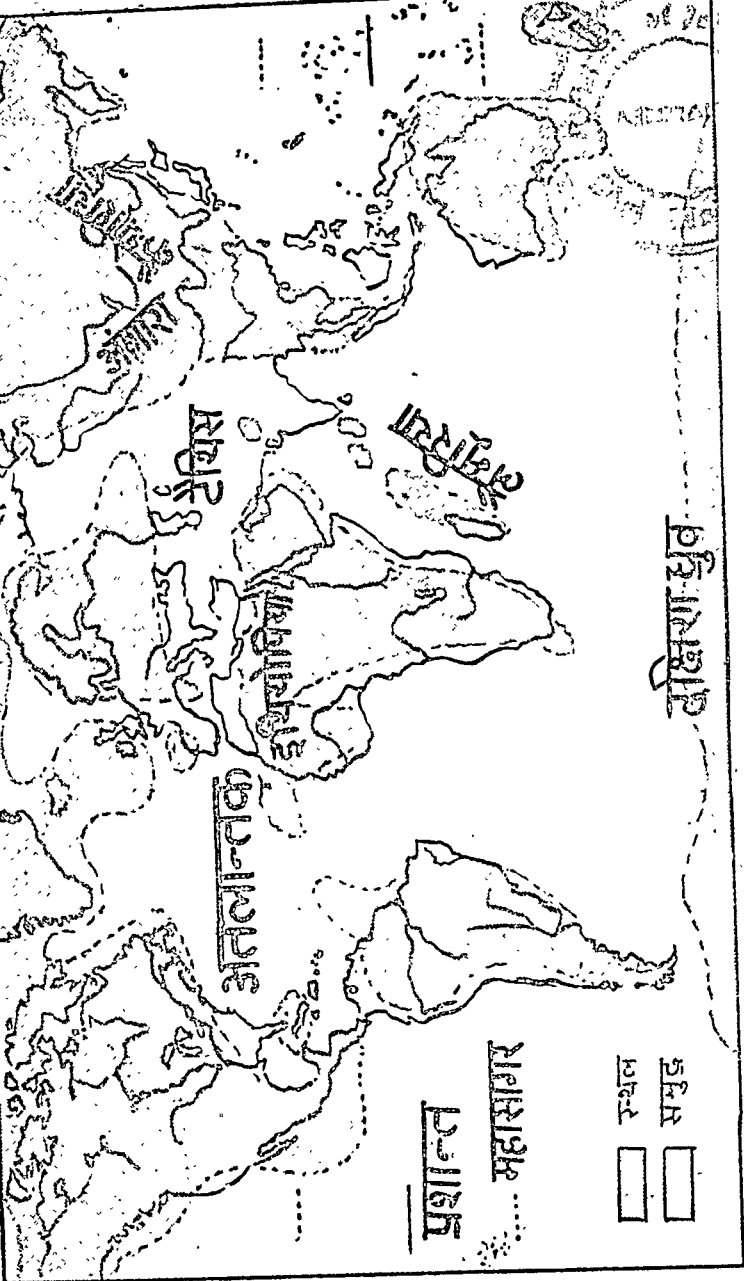
संसार का मानचित्र—आदि नूतन कल्प

बात आदि नूतन काल के संसार के मानचित्र पर दृष्टि डालते ही देखी जा सकती है। इस मानचित्र और इससे पहले के मानचित्रों में मुख्य अन्तर यह है कि गोंडवानालैंड का अपने पहले के रूप में अस्तित्व निश्चित रूप से समाप्त हो चुका है। उसके स्थान पर अपेक्षाकृत छोटे-छोटे भू-भाग हैं, जिनमें से तीन को दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया के रूप में पहचाना जा सकता है, हालांकि भू-वैज्ञानिक आदि नूतन काल के इन भू-भागों के लिए उनके आधुनिक नामों का प्रयोग नहीं करते। अतलान्तक महासागर उस समय बन चुका था; पुराने स्थल प्रदेश अटलान्टिस का कुछ अंश उसमें समा गया था, किन्तु सिकुड़ता जा रहा टैथिस उस समय तक विद्यमान था और वह अतलान्तक को अफ्रीका से परे के समुद्री प्रदेशों के साथ मिलाता था। उपरि-आदि नूतन काल में एक चौड़ी जलसंधि टैथिस को उत्तर ध्रुव महासागर से मिलाती थी और यूरोप को एशिया से अलग करती थी। इस नक्शे की एक अन्य रोचक विशेषता है लैमूरिया की विद्यमानता। जो आज-कल भारत महासागर है, उसमें यह लैमूरिया एक बड़ा द्वीप था। इसका कुछ अंश अब भी आधुनिक मडागास्कर के रूप में बचा हुआ है। अटलान्टिस की तरह लैमूरिया के विषय में भी कहा जाता है कि किसी समय यहां एक महान सभ्यता विद्यमान थी; यह विचार आकर्षक भले ही जान पड़े, किन्तु यह स्पष्टतः गलत है।

प्राचीन अटलान्टिस और गोंडवानालैंड के कुछ अंशों के डूब जाने के कारण अवश्य ही बहुत काफी ज्वालामुखीय हल-चल शुरू हुई होगी, और ऐसा प्रतीत होता है कि आयरलैंड,

भारत और उत्तरी ध्रुव जितने एक दूसरे से दूर स्थित प्रदेशों में ज्वालामुखी फटे थे और उनमें से लावा भी निकला था। लेकिन सामान्यतया आदिनूतन काल अब की अपेक्षा अधिक कोष्ण था। जो पौधे आजकल केवल भूमध्य रेखा के निकट के प्रदेशों में पाये जाते हैं, वे उस समय ब्रिटेन वाली अक्षांश रेखा में और यहां तक कि ग्रीनलैंड में भी, जो उस समय उत्तरी अमेरिका के साथ जुड़ा हुआ था, खूब पनपे थे। आज-कल ग्रीनलैंड की बर्फ में केवल सब ऋतुओं में जीवत रह सकने वाली सहिष्णु वनस्पतियां ही बच पाती हैं, जिससे यह पता चलता है कि इस समय उत्तरी ध्रुव उसकी अपेक्षा बहुत अधिक ठंडा है, जितना कि यह पहले हुआ करता था।

आदि नूतन काल की वनस्पतियां हमारी वनस्पतियों से बहुत भिन्न नहीं थीं। फूलों वाले पौधे दूर-दूर तक फैले हुए थे और बहुत से वृक्ष भी थे, जिनमें ताड़ों से लेकर इंग्लैंड के बागों के प्रिय बांज वृक्ष और सदाबहार शंकुवृक्षों (कोनिफर) तक की जातियों के पेड़ थे। समुद्र में भी जीवन बहुत कुछ आधुनिक था, जिसमें सब प्रकार की मछलियां, केंकड़े और शुक्तियां (सीप) विद्यमान थीं। अब क्योंकि भयावह इक्थ्योसौर और प्लैसियोसौर नहीं रहे थे, इसलिए समुद्री जीवन अधिक आनन्दमय हो गया होगा, भले ही रोमांचकारी कम हो गया हो।

अवश्य ही सबके सब सरीसृप मर कर समाप्त नहीं हो गये थे। जैसा कि हमें मालूम है, उनमें से बहुत से अभी तक
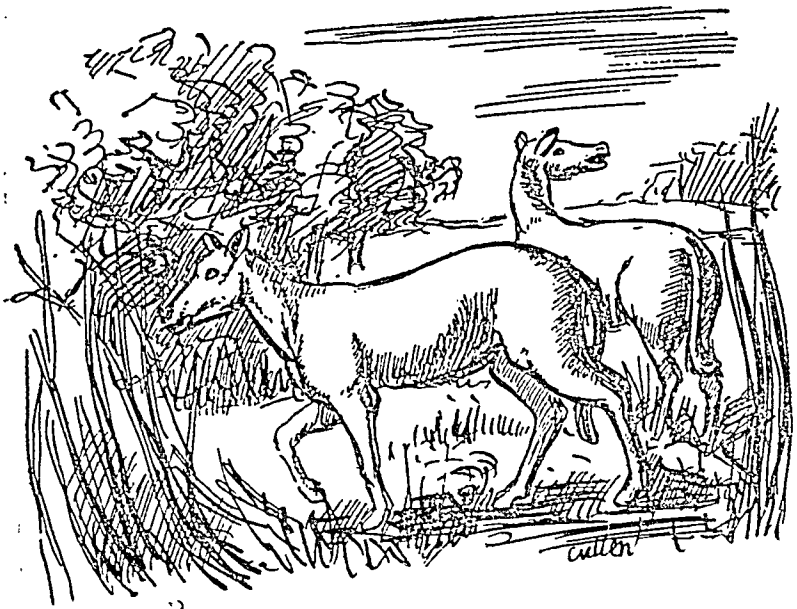
ईओहिप्पस

वचे चले आ रहे हैं, जैसे कि साँप और गोहें। परन्तु मांसभोजी डाइनोसौरों के लुप्त होने के साथ ही सरीसृपों का राज्य समाप्त हो गया था और इस परिवार के जो सदस्य बाकी बचे थे, उनमें सबसे खतरनाक मगरमच्छ थे। कच्छप और स्थलीय कछुए भी खूब पनपे। जल-स्थल चर प्राणियों का, जो कोयले के वनों के काल में संसार के सर्वाधिक उन्नत प्राणी थे, महत्व कम और कम होता गया, किन्तु मेंढ़क और भेक सम्पूर्ण तृतीय महाकल्प में और पृथ्वी के इतिहास के सबसे हाल के काल में सामान्यतया पाये जाते थे।

जब हम आकाश में उड़ने वाले प्राणियों की ओर मुड़ते हैं, तो हमें पता चलता है कि आदिनूतन काल के कीट हमारे आजकल के कीटों से बहुत मिलते-जुलते थे; परन्तु पक्षी भिन्न

थे, हालांकि इस कल्प के अन्त तक उनके सरीसृपों के से दांत जाते रहे थे। कुछ पक्षी, अब पहले की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होने के कारण फिर भूमि पर लौट आये थे और उन्होंने उड़ना बिल्कुल छोड़ ही दिया था, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि कुछ सरीसृप बहुत थोड़े काल तक जल से बाहर स्थल पर रहने के बाद फिर समुद्रों में लौट गये थे। इन न उड़ने वाले पक्षियों के वंशज शतुरमुर्ग, ऐमू और पेंग्विन हैं।

परन्तु आदिनूतन कल्प की महान विशेषता स्तनपायी प्राणियों का अभ्युदय है। स्तनपायी प्राणी, सरीसृपों के विपरीत, नियततापी (कोष्ण रक्त वाले) होते हैं और उन्होंने बहुत जल्दी उससे अधिक मस्तिष्क शक्ति विकसित कर ली, जितनी कि विशालकाय डाइनोसौर कभी भी कर पाये थे। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सर्व प्रथम स्तनपायी प्राणी, जो लगभग चूहों और खरगोशों जितने आकार के थे, इससे लगभग १८ करोड़ वर्ष पहले, ट्रियैसिक कल्प में प्रकट हो चुके थे; किन्तु जब तक डाइनोसौर जीवित थे, तब तक इनके कुछ अधिक प्रगति कर पाने की आशा नहीं थी। जब एक बार सरीसृपों का खतरा समाप्त हो गया, तब स्तनपायी प्राणियों ने खोये हुए समय की कमी को पूरा कर लिया और आदिनूतन काल की समाप्ति तक वे काफी उन्नत हो चुके थे। सब आधुनिक स्तनपायी प्राणियों की, जिनमें हम भी सम्मिलित हैं, पूर्वज परम्परा आदि नूतन काल के स्तनपायी प्राणियों में खोजी जा सकती है।

इन स्तनपायी प्राणियों में सबसे सामान्य प्राणी खुरों वाले वनस्पति-भोजी थे। उनमें से एक 'ईओहिप्पस' था; यह

आर्सिनोथीरियम

शब्द भी यूनानी भाषा से ग्राया है, जिसका ग्रर्थ है 'उषा अश्व', क्योंकि वस्तुतः ईओहिप्पस विशाल ग्रश्व परिवार का सबसे आरम्भिक ज्ञात सदस्य है। यह एक विचित्र छोटा-सा पशु था, जिसका आकार लगभग टैरियर कुत्ते जितना था और ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपना अधिकांश समय दलदलों में विताया करता था। इतना ही मनोरंजक मोरीथीरियम था, जो सर्वप्रथम आदिमकालीन हाथी था; उसकी ऊँचाई केवल लगभग तीन फुट थी; इसलिए यदि उसे किसी आधुनिक हाथी के पास खड़ा कर दिया जाता, तो वह बहुत छोटा लगता। उसकी अपेक्षा कहीं बड़ा आर्सिनोथीरियम था, जो हाथी ग्रौर गैंडे के बीच का संकर जैसा प्रतीत होता था, और एशिया के कुछ भागों में रहता था। बहुत से लोगों ने रुडयार्ड किपलिंग की प्रसिद्ध कहानी 'हाथी को सूँड कैसे मिली' पढ़ी है, जिसमें एक कुतूहली हाथी का बच्चा नदी में झुकता है ग्रौर उसकी नाक एक मगरमच्छ पकड़ लेता है; वह मगरमच्छ उस नाक को इतने ज़ोर से खींचता है कि वह सूंड बन जाती है। यह कहा गया है कि आर्सिनोथीरियम अवश्य ही उस हाथी के बच्चे जैसे दिखाई पड़ते होंगे, जब कि नाक खिचने की प्रक्रिया आधी ही पूर्ण हो पाई थी। लेकिन वस्तुतः उनकी 'सूंड' ठीक ठीक सूंड थी ही नहीं, अपितु वह तो हड्डी की बनी थी।

हमारे दृष्टिकोण से आदि नूतन कल्प के स्तनपायी प्राणियों में सबसे महत्वपूर्ण प्राइमेट थे; ये उस परिवार के सर्व प्रथम सदस्य थे, जो बन्दरों, कपियों और मनुष्यों के रूप में विकसित हुआ। वे छोटे-छोटे प्राणी थे, जो वृक्षों पर रहते

थे; उनमें से कुछ उस बन्दर उपकुल के छोटे सदस्यों से मिलते-जुलते थे, जिन्हें हम 'लीमर' कहते हैं। यह जानकर हमारे अभिमान को धक्का अवश्य लगता है कि हम उन छोटे-छोटे पशुओं के सीधे वंशज हैं, जो डर कर पेड़ों की शाखाओं में जा छिपा करते थे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है। आखिर यह किसी डाइनोसौर का वंशज होने की अपेक्षा तो अधिक ही आनन्द की बात है।

आदि नूतन कल्प अब से ४.५ करोड़ वर्ष पहले समाप्त हो गया। अगले एक करोड़ वर्षों का काल 'अल्पनूतन' (ओलिगोसीन) कल्प था। 'ओलिगोसीन' शब्द यूनानी भाषा से बना हुआ शब्द है, जिसका अर्थ है 'थोड़ा नूतन'; क्योंकि उस काल में जीवन के अपेक्षाकृत अधिक नूतन रूप थोड़े ही थे। सच बात तो यह है कि यह नाम कोई बढ़िया नाम नहीं है। यह ठीक है कि पशु अविकसित थे, किन्तु उनमें से कुछ ऐसे थे, जिन्हें काफी आसानी से घोड़ों, हाथियों और यहां तक कि कपियों के पूर्वजों के रूप में पहचाना जा सकता है, और पौधे तथा कीट तो लगभग हूबहू हमारे अपने काल के पौधों और कीटों जैसे ही थे। मधुमक्खियां, तितलियां, चींटियां और मकड़ियां खूब थीं और यहां तक कि चमगादड़ भी, जो अद्भुत उड़ने वाले स्तनपायी प्राणी हैं, भली-भांति विकसित हो चुके थे।

धीरे धीरे किन्तु सुनिश्चित रूप से, संसार का मानचित्र अधिकाधिक हमारे अपने काल के मानचित्र जैसा होता जा रहा था। संसार कोष्ण (हल्का गर्म) था, उतना कोष्ण नहीं, जितना कि वह आदि नूतन कल्प में रहा था, पर अभी तक

भी वह प्रधानतः मृदु ही था। ज्यों-ज्यों पृथ्वी की पपड़ी की गतियों ने उस पपड़ी के कुछ अंशों को ऊपर उभारा, त्यों त्यों टैथिस समुद्र निरन्तर सिकुड़ता गया; अन्तिम परिणाम यह हुआ कि इसके बाद आने वाले कल्प में आल्प्स बना, और कुछ समय के लिए टैथिस और उत्तर ध्रुव महासागर को मिलाने वाली जल-संधि भर कर स्थल बन गई, हालांकि संभाव्यतः यह अन्तिम बार लुप्त होने से पहले कई बार सूखी और फिर बार-बार पानी से भरी थी।

अल्पनूतन कल्प के स्तनपायी प्राणी न केवल भूमंडल के शासक थे, अपितु वे उन अन्य किन्हीं भी प्राणियों की अपेक्षा बहुत उन्नत हो गये थे, जो इससे पहले भूमंडल के शासक रहे थे। स्मरण रखिये कि आदिनूतन कल्प के छोटे से ईओहिप्पस में भी, जिसका आकार एक छोटे कुत्ते जितना होता था, मध्य-जीव काल के टिरैनोसौरस की अपेक्षा कहीं अधिक मस्तिष्क होता था। अल्पनूतन काल के कुछ स्तनपायी प्राणी उल्लेख-नीय रूप से हाथियों तथा अन्य सुपरिचित पशुओं के, अनाड़ी हाथों द्वारा बनाये गये, चित्रों से मिलते-जुलते थे। उदाहरण के लिए, बलूचीथीरियम स्पष्टतः गैंडा-परिवार का है। फिर, उनमें ठूंठ-सी सूंडों वाले हाथी भी थे; और पैलियोथी-रियम को घोड़े के पूर्वज के सिवाय और कुछ समझने की भूल कौन कर सकता है? आरम्भिक बिल्लियां और कुत्ते भी पहचाने जाने योग्य हैं; यही हाल ऊंटों और सूअरों का भी है। इसके अलावा, सर्वप्रथम वास्तविक कपि भी हमें अल्पनूतन काल में ही प्राप्त होता है। इसे 'पैरापिथैकस' नाम दिया गया है और यह कोई चार करोड़ वर्ष पहले अफ्रीका में रहा करता

था। यह छोटा और निरीह था, किन्तु फिर भी था यह कपि ही।

यदि हम किसी प्रकार वापस अल्पनूतन कल्प में लौट सकते, तो हमें वहां बहुत-सी विचित्र (अपरिचित) वस्तुएं दिखाई पड़तीं, बहुत-सी ऐसी वस्तुएं भी हमें मिलतीं, जो हमारे लिए परिचित होतीं। जीवन केवल चार करोड़ वर्षों में ही उसकी अपेक्षा अधिक बदल गया था, जितना कि वह क्रिटैशस अनुच्छेद के पूरे सात करोड़ वर्षों में बदला था, और अब सर्व-प्रथम वास्तविक, सचेत 'विचार' (सोचने) में समर्थ प्राणियों के आगमन में बहुत देर नहीं थी।

अध्याय नौ

नक्शे की वर्तमान आकृति का बनना

प्रथम मानव का अविर्भाव हिम युग में हुआ था। उस महान युग तक पहुंचने के लिए अभी हमें तृतीय कल्प के दो अनुभाग और पार करने हैं। ये अनुभाग हैं, मध्यनूतन (मायोसीन), जो अब से ३.५ करोड़ वर्ष पहले से ले कर १.५ करोड़ वर्ष पहले तक रहा और अतिनूतन (प्लायोसीन), जो १.५ करोड़ वर्ष पहले से ले कर अब से दस लाख वर्ष पहले तक रहा। ये नाम, जैसा कि साधारणतया होता है, यूनानी भाषा के शब्दों से निकले हैं; मायोसीन (मध्यनूतन) का अर्थ है 'अपेक्षाकृत कम नूतन' और प्लायोसीन का अर्थ है 'अपेक्षाकृत अधिक नूतन'।

अतिनूतन कल्प के अन्त तक संसार के नक्शे ने अपना आधुनिक रूप धारण कर लिया था। इसलिए यह उचित समय है कि हम पृथ्वी की विविध प्रकार की गतियों पर कुछ अधिक बारीकी से दृष्टि डाल लें।

पहले तो महाद्वीपों का निर्माण करने वाली विशाल प्रदेशों की मन्द ऊपर तथा नीचे की ओर की गतियां होती हैं, जिनके फलस्वरूप या तो समुद्र की तलियां तब तक ऊपर उठती चली आती हैं, जब कि उनके ऊपर पानी नहीं रहता, या फिर स्थल प्रदेश तब नीचे बैठते जाते हैं, जब तक कि उनके

ऊपर पानी भर जाता है। दूसरे नम्बर पर वे गतियां हैं, जो 'पर्वतन-क्रियात्मक' (औरोजैनिक) कहलाती हैं। ये अपेक्षाकृत कहीं कम हल्की होती हैं, और इनके फलस्वरूप शैल संकीर्ण पट्टियों में मुड़ जाते हैं और ऊपर की ओर को उभर आते हैं, जिससे हिमालय और आल्प्स जैसी ऊंची पर्वत-शृंखलाएं बन जाती हैं। यद्यपि इन दोनों श्रेणियों में से पर्वतन-क्रियात्मक प्रकार की गतियां अधिक प्रचंड होती हैं, फिर भी वे आकस्मिक (एकाएक) नहीं होतीं और किसी पर्वत-शृंखला का निर्माण धीमे-धीमे ही होता है। यह समझना गलत होगा कि नक्शे की आकृति पर भूकम्पों का कोई बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूकम्प किसी एक विशिष्ट प्रदेश में एक तेज़ ज़ोरदार धक्का होता है; यद्यपि इससे बहुत नुकसान हो जाता है और यहां तक कि कभी कभी कोई द्वीप लुप्त हो जाता है, या किसी नीचे प्रदेश में पानी भर जाता है, फिर भी यह केवल पृथ्वी की पपड़ी के किसी अंश के शैलों का फिसलना और तड़कना मात्र होता है और अन्ततोगत्वा महत्वहीन होता है।

मध्यनूतन काल में उस गर्त के आस पास, जो किसी समय टैथिस समुद्र से भरा हुआ था, एक प्रारूपिक पर्वतन क्रियात्मक गति हुई। पपड़ी की ज़ोरदार गतियों ने शैलों को दबाया और आकुंचित कर दिया, और उन्हें ऊंचे-ऊंचे शिखरों के रूप में ऊपर की ओर धकेल दिया; हिमालय बना और आल्प्स का जन्म, जो अल्पनूतन काल में शुरू हो चुका था, पूरा हो गया। यह जान कर विस्मय होता है कि ऐवरैस्ट (सरगमाथा), गौडविन आस्टिन और हिमालय के अन्य तुंग शिखर अपेक्षाकृत युवा पर्वत हैं। अमेरिका में ऐंडीज़ पर्वत-

माला भी मध्यनूतन काल में बनी।

मध्य नूतन काल की समाप्ति पर टैथिस समुद्र, जो प्राचीन संसार का एक अन्य विशेष महत्वपूर्ण विशेष लक्षण था, अपने पुराने रूप में शेष नहीं रहा था। उसका कुछ अंश अब भी देखा जा सकता है, जिसे हम भूमध्य सागर के रूप में जानते हैं, किन्तु यह अपने-पहले के स्वरूप का अपेक्षाकृत बहुत ही सिकुड़ा हुआ रूप है। मध्यनूतन काल में पुराने टैथिस और उत्तर ध्रुव सागर को मिलाने वाली जल-संधि अन्तिम बार भर कर स्थल बन गई और इस प्रकार यूरोप एशिया के साथ जुड़ा गया; और एक समय ऐसा भी था, जब यूरेशियाई अफ्रीका के भू-भाग साथ और उत्तरी अमेरिका के साथ भी जुड़ा हुआ था। एक विशाल स्थलान्तर्वर्ती समुद्र नये बने आल्प्स के उत्तर में यूरोप के आर पार फैला हुआ था; यह अधिकांश आस्ट्रिया पर फैला था और रूस के अन्दर दूर तक चला गया था, किन्तु अगले कल्प-अतिनूतन-में यह समुद्र कास्पियन जैसे छोटे छोटे समुद्रों में विभक्त हो गया, जब कि आधुनिक ब्रिटेन के उत्तर-पूर्व की ओर का नीचा स्थल प्रदेश जल से भर गया और 'उत्तर सागर' बन गया।

अल्पनूतन कल्प की कोष्णता मध्य नूतनकल्प
हो गई और वे उष्ण कटिवन्धीय प्रकार के पौधे, जो ध्रुवीय अंचल के आसपास होते रहे थे, क्रमशः भू-मध्य रेखा की ओर धकेले जाने लगे। अति नूतनकल्प अपेक्षाकृत और भी ठंडा था, और उस काल के जल-वायु आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक कोष्ण न थे। इसके अतिरिक्त पृथ्वी की पपड़ी में चल रहे महान विक्षोभों के फलस्वरूप ज्वालामुखी फटे, और

कुछ स्थानों पर बहुधा इतनी अधिक वर्षा होती थी कि नये बने पर्वतों में से कुछ तो जल्दी ही घिस कर नीचे हो गये।

तृतीय महाकल्प के इस अन्तिम भाग में पौधों का जीवन या समुद्री जीवन कैसा था, इसकी चर्चा में हमें अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह आज कल के जीवन से मिलता-जुलता था। इतना अवश्य है कि पशुओं का विकास निरन्तर होता रहा। इस काल में हमें ऐसे प्राणी मिलते हैं, जैसे कि हिप्पेरियन, जो चार फुट ऊंचा अतिनूतन कल्प का अश्व था, और जो यूरेशिया और उत्तरी अमेरिका के घास के मैदानों में रहा करता था; शिवथीरियम, जो आधुनिक जिराफ़ का पूर्वज था; इसकी गर्दन छोटी और सींग शाखा-युक्त होते थे और इसकी कुल ऊंचाई सात या आठ फुट होती थी; और डीनोथीरियम, जो हाथी का अग्रदूत था। उस समय कुछ प्रकार के बिडाल और कुत्ते भी होते थे, हालांकि वे हमारे बिडालों और कुत्तों से भिन्न होते थे।

बिडाल परिवार का एक विशेष रूप से मनोरंजक सदस्य कृपाणदन्ती बाघ था, जो पहले पहल मध्यनूतन कल्प में पाया गया था और जो तृतीय महाकल्प के अन्त तक भली भांति विकसित हो गया था। यह असल में बाघ नहीं था, किन्तु लगभग बाघ के जितने ही आकार का था और इसकी उल्लेखनीय विशेषता इसके दो रदनकों (भेदक दन्तों, कीलों) की लम्बाई थी। ये दांत सचमुच ही कृपाण जैसे थे, जो आगे से नुकीले और पीछे की ओर को आरे जैसे थे, और यह प्राणी अवश्य ही हिंस्र और खतरनाक शत्रु रहा होगा। हो सकता है कि शुरू-शुरू के कुछ मनुष्यों की इनसे मुठभेड़ भी हुई हो,
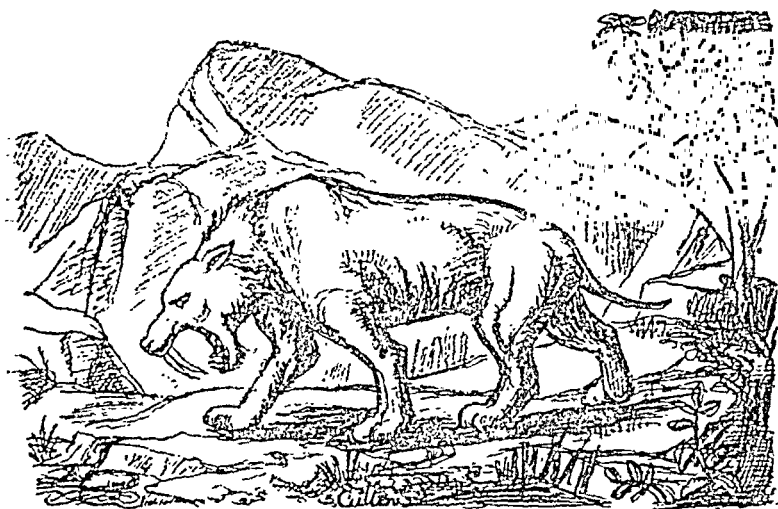
कृपाणदन्ती बाघ

क्योंकि कृपाणदन्ती बाघ अन्तिम हिमन्युग के मध्य तक भी विद्यमान थे ।

पक्षी तो बिल्कुल सामान्य थे ही, जिनमें बहुत से वे पक्षी भी थे, जो वापस भूमि पर लौट आये थे । उदाहरण के लिए, आरम्भिक पेंग्विनें-जो हमारे काल की पेंग्विनों से बड़ी होती थीं-सुदूर दक्षिण में खूब पनप रही थीं । क्योंकि न उड़ने वाले पक्षी आत्मरक्षा के लिये कुछ भी नहीं कर सकते, इसलिए अपेक्षाकृत हाल के समय में उन्हें भारी क्षति पहुंची है और यहां तक कि एक या दो परिवारों का तो मनुष्य ने ही सफाया कर दिया है । शायद इन नष्ट हुए परिवारों में सबसे अन्तिम 'ग्रेट औक' थे, जिनका तब तक निष्ठुरतापूर्वक शिकार किया गया, जब तक कि वे पूर्णतया नष्ट ही न हो गये । भाग्य की एक विचित्र विडम्बना यह रही कि प्रकृति की एक चाल ने

उनके अन्त को और शीघ्र लाने में सहायता दी। इस जाति के सबसे अन्त में बचे हुए पक्षियों ने अपना घर एक सुदूर तथा अगम्य चट्टानी लघु द्वीप में, जो गाइरफुगलास्काइर कहलाता है, बनाया था। यह लघु द्वीप आइसलैंड से लगभग पन्द्रह मील दूर था। १८३० में यह गाइरफुगलास्काइर द्वीप एक प्रचंड ज्वालामुखी के फटने से प्रकम्पित हुआ और पानी में डूब गया। अभागे औक पक्षियों को विवश हो कर एक अन्य द्वीप 'ऐल्डी' पर चले जाना पड़ा, जो आइसलैंड के अपेक्षा-कृत बहुत निकट था। ऐल्डी तक पहुंचना मनुष्यों के लिए औकों के पहले निवासस्थान तक पहुंचने की अपेक्षा बहुत आसान था, और बहुत शीघ्र ही प्रत्येक ग्रेट औक का विनाश-कारी मनुष्यों ने संहार कर दिया। इनमें से अन्तिम दो १८४४ में मारे गये थे। नरम शब्दों में भी कहा जाये, तो उनकी मृत्यु एक दुःखद घटना थी।

तृतीय महाकल्प के अन्तिम दो कल्पों में हमारे पूर्वज, प्राइमेटों का आश्चर्यजनक विकास हुआ। मध्य-नूतन कल्प के शुरू में कपि-सदृश प्राणी छोटे और निरीह थे और उनमें विचार की कोई सही शक्तियां नहीं थीं; अति-नूतन कल्प के अन्त में कुछ प्राणी ऐसे थे, जो भले ही 'मनुष्य' नहीं थे, किन्तु कम से कम वे शस्त्र के रूप में प्रयुक्त करने के लिए पत्थर के पैने टुकड़े उपाड़ पाने की अवस्था तक तो पहुंच ही गये होंगे। और यहां हम उन बार-बार दुहराई गई भूलों में से एक की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना चाहते हैं, जो पाठ्य-पुस्तकों में पाई जाती हैं। मनुष्य 'बन्दरों का वंशज नहीं है।' बन्दर, चिड़ियाघर में दिखाई पड़ने वाले प्रकारों में से कोई सा,

कभी मनुष्य के रूप में नहीं बदल सकता; और न उष्ण जल-वायु में रहने वाले बड़े कपि-परिवार ही विकसित होकर मानव बन सकते थे। बन्दर और कपि अपने आप में अधिकतम पूर्णता तक पहुंच चुके हैं और वे कभी भी और आगे विकसित नहीं हो सकते; इसलिए यह सीधा सादा वक्तव्य, कि हम "बन्दरों के वंशज हैं", गलत है। दूसरी ओर, यह कहना बिल्कुल सही है कि मनुष्य और बन्दर, दोनों के पूर्वज एक ही थे—ये वही नन्हें-नन्हें प्राइमेट (वानर) थे, जिनसे हम सबसे पहले आदि नूतन कल्प में मिल चुके हैं। इन तरुवासियों में से कुछ क्रमशः विकसित हो कर मनुष्य बन गये, और कुछ अन्य बन्दर; इस प्रकार अब हम बन्दरों को अपना केवल बहुत दूर का सम्बन्धी मान सकते हैं। वस्तुतः बन्दरों की मस्तिष्क शक्ति कोई विशेष रूप से असाधारण नहीं होती। कोई भी बन्दर समुद्री सिंह या हाथी जितना चतुर नहीं होता; हमारा गलतफहमी की ओर झुकाव इस तथ्य के कारण रहता है कि कपि देखने में हमारे अधिक सदृश होते हैं।

उपरि-अति नूतन कल्प के 'लगभग मनुष्य' वास्तविक मनुष्य बन सकें, इससे पहले उन्हें एक नये खतरे का सामना करना था। इस बार यह खतरा अन्य प्राणियों की किसी जाति से नहीं था, किन्तु यह उससे भी अधिक गम्भीर था। सरीसृपों तक से लड़ा जा सकता था और उन्हें पराजित किया जा सकत था, और यदि डाइनोसौरों की कोई नई जाति उठ खड़ी होती, तो उसे ये 'उषा म नव' समय पाकर केवल इसलिए नष्ट कर देते कि उनमें बुद्धि अधिक थी, भले ही अन्त विजय प्राप्त करने से पहले उन्हें भारी क्षति उठानी पड़ती।

लेकिन प्रकृति की शक्तियों का मुकाबला कर पाना कहीं अधिक कठिन है, और इस नये संकट को संक्षेप में एक शब्द में कहा जा सकता है : "शीत"। धीरे धीरे किन्तु सुनिश्चित रूप से वह लम्बा कोष्ण (हल्का गर्म) काल, जो कुछ कम या अधिक बीस करोड़ वर्षों तक रहा था, अब समाप्त हो रहा था। एक बार फिर ध्रुवों पर हिमच्छद बन गये थे और संसार के नये स्वामियों की परख का समय आ रहा था। हम इस बढ़ते हुए शीत को तृतीय महाकल्प की समाप्ति का सूचक चिह्न मानते हैं, जो उचित ही है।

अध्याय दस

हिम युग

पृथ्वी के इतिहास की हमारी पुस्तक का अन्तिम अध्याय, चतुर्थ (क्वैटर्नरी) महाकल्प बहुत ही छोटा है और यह केवल दस लाख वर्षों का—शायद इससे भी कम का है। फिर भी हम इसे दो अनुभागों में विभक्त करते हैं। इनमें से पहले का नाम 'अत्यन्त नूतन' (प्लीस्टोसीन) कल्प है। प्लीस्टोसीन शब्द भी यूनानी भाषा से आया है, जिसका अर्थ है—सबसे नूतन, और यह इस कल्प के इतने अधिक भाग को घेर लेता है कि इसके अन्त में हमें सभ्यता के प्रथम चिह्न मिलने शुरू हो जाते हैं। ८००० ईसा पूर्व के आस पास हम 'नूतनतम' (हौलोसीन) अर्थात् पूर्णतया नूतन काल में प्रवेश करते हैं, जो हमारा अपना काल है। जिस प्रकार कैम्ब्रियन काल ट्राइलोबाइटों का युग था और क्रिटैशस डाइनोसौरों का युग था, उसी प्रकार नूतनतम काल मानवों का युग है।

अत्यन्त नूतन काल हिम युग का काल था, तीव्र शीत का वह काल, जिसमें अधिकांश ब्रिटेन हिमछत्र से ढका हुआ था। लेकिन यह मानना ठीक न होगा कि हिमयुग लगातार दस लाख वर्षों तक रहा। उसमें बीच-बीच में शीत की लहरें हिमनदीय और कोष्णतर काल (अन्तरा हिमनदीय) आते रहे थे और सम्भाव्यत: ये कोष्णतर काल हिमनदीय कालों की

अपेक्षा कहीं अधिक देर तक रहे थे। कुल मिला कर चार शीत की लहरें आईं, जो सारे अत्यन्त नूतन काल में फैली हुई थीं।

एक बार फिर हम अपनी तिथियों के विषय में अनिश्चित हैं। हम कुछ कम या अधिक यह तो बता सकते हैं कि अन्तिम शीत लहर कब समाप्त हुई, और हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तिम हिम युग अब से दस हज़ार वर्ष पहले, नूतनतम (हौलोसीन) काल के शुरू होने के समय (८००० ईसा पूर्व में) समाप्त हो चुका था, किन्तु हम इस विषय में इतने निश्चय से कुछ नहीं कह सकते कि पहली शीत लहर शुरू कब हुई थी। अत्यन्त नूतन (प्लीस्टोसीन) काल के लिए हमारा दस लाख वर्षों का अन्दाज़ा कुछ गलत भी हो सकता है। प्रोफेसर ज़्यूनर का विश्वास है कि यह काल केवल ६,००,००० वर्षों का था, जब कि अन्य भू-वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यह बीस लाख वर्षों का था। चाहे जो हो, घोरतम हिमनदन के दिनों में परिस्थितियां सचमुच ही बहुत विषम थीं और आरम्भिक मनुष्यों को शीत के विरुद्ध भीषण संघर्ष करना पड़ा था।

हिमनदीय कालों में ब्रिटेन हिम (बर्फीले) अंचल के ठीक सीमान्त पर स्थित था। ध्रुवीय हिम छत्र का छोर इंग्लैंड के दक्षिणी भाग को आर पार काटता था और होम काउंटियां—ससैक्स, कैंट तथा बाकी ज़िले—टुंड्रा थे, जो आजकल के साइबेरिया से बहुत भिन्न नहीं थे। अतिशीतल भूमि क्षुद्र पौधों तथा उत्तर ध्रुव के बौने, पेड़ों के अतिरिक्त कम ही वस्तुओं को उपजा सकती थी। हिमनदन के काल में महासागरों का सामान्य तल भी नीचा हो गया था, क्योंकि बहुत सारा जल हिम के रूप में जमा पड़ा था और ब्रिटेन फिर यूरोप

महाद्वीप के साथ जुड़ गया था। कोष्णतर अन्तरा हिमनदीय कालों में महासागर फिर ऊंचे उठे और इंग्लिश चैनल तथा उत्तर सागर एक बार फिर जल से भर गये। नूतनतम काल के आरम्भ में, अब से लगभग आठ हज़ार वर्ष पहले ब्रिटेन के यूरोप से अन्तिम बार पृथक् होने से पूर्व ऐसा कई बार हुआ।

सबसे लम्बे हिमनदीय कालों में, जिनमें से प्रत्येक दसियों हज़ार वर्षों का था, परिस्थितियां किस प्रकार की थीं ?

गर्मी पसन्द करने वाले प्राणियों को, जो तृतीय महा कल्प में खूब पनपे थे, बहुत क्षति उठानी पड़ी। अनेक प्रकार के पशु और पक्षी या तो बिल्कुल मर ही गये, या फिर उन्होंने अपने आपको अधिक शीतल स्थिति के अनुकूल बदल लिया। अन्तिम हिम युग में रेनडियर और ध्रुव प्रदेश की लोमड़ियां दक्षिणी इंग्लैंड में घूमा करती थीं, और अन्य बहुत से प्राणी थे, जो भू-वैज्ञानिक समय-मान की दृष्टि से बिल्कुल हाल ही में मर कर समाप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, दक्षिण अमेरिकी मैगाथीरियम, अर्थात् भीमकाय, ग्राउंड स्लौथ, बीस फुट लम्बा वनस्पति-भोजी पशु था, और क्योंकि उसके अवशेष आदिम मनुष्यों के अवशेषों के पास पाये गये हैं, इसलिए यह समझा जाता है कि शायद स्लौथों को पालतू बना लिया गया हो। कृपाणदन्ती बाघ हिम युग में काफी शुरू में ही लुप्त हो गये थे, किन्तु हाथी और घोड़े बचे रह गये।

हिम युग के साथ जिस प्राणी का सम्बन्ध आमतौर से लोगों के मन में जुड़ा हुआ है, वह मैमथ (महाहस्ती) है। मैमथ हाथी परिवार का सदस्य था और वह एक बड़ा पशु था, जिसके लम्बे, मोटे बाहरी बालों के साथ घने, लाल-

भूरे ऊनी बाल भी होते थे। उनके दन्त (गजदन्त) बड़े, भारी और मुड़े हुए होते थे, जिनकी कुछ लम्बाई कम से कम दस फुट होती थी, और कुल मिला कर मैमथ अवश्य ही एक शानदार पशु रहा होगा। यद्यपि जब लिखित इतिहास का आरम्भ हुआ, उससे पहले ही मैमथ समाप्त हो चुके थे, फिर भी हमें ठीक ठीक पता है कि वे देखने में कैसे लगते थे। संसार के विभिन्न भागों में पाये गये सैकड़ों दांतों, दन्तों (गजदन्तों), और अस्थि-अवशेषों के अलावा साइबेरिया में पूरे के पूरे जमे हुए मैमथ खोद कर निकाले गये है, जो शीत द्वारा—जिसने एक विशाल प्रशीतक यंत्र का काम किया—परिरक्षित रहे और अभी तक उनके बाल और मांस उन पर हैं। यह कहा जाता है कि एक बार जब रूसी वैज्ञानिकों के एक दल ने सर्दी में जमे हुए एक मैमथ को खोद कर निकाला, तब एक व्यक्ति ने वस्तुतः मैमथ के मांस का एक टुकड़ा पकाया और यह देखने के लिए खाया कि उसका स्वाद कैसा है। सौभाग्य से उस दल का एक अन्य सदस्य चिकित्सक भी था।

बहुधा यह माना जाता है कि हम भी हिमनदन के अन्तिम चरणों में रह रहे हैं और यह, कुछ ही दसियों हज़ार वर्षों में वे हिमछत्र, जो इस समय ध्रुवों को ढके हुए हैं, पूर्णतया लुप्त हो जायेंगे, जिससे ग्रीनलैंड और दक्षिणी ध्रुव जैसे प्रदेशों तक में कोष्णता आ जायेगी। पता नहीं ऐसा होगा या नहीं (गत चौथाई शताब्दी में उत्तर अंचल कोष्ण होते जाना, जिससे कि इन्कार नहीं किया जा सकता, संभाव्यतः इस विषय में विश्वास योग्य मार्गदर्शक नहीं है), किन्तु जहां
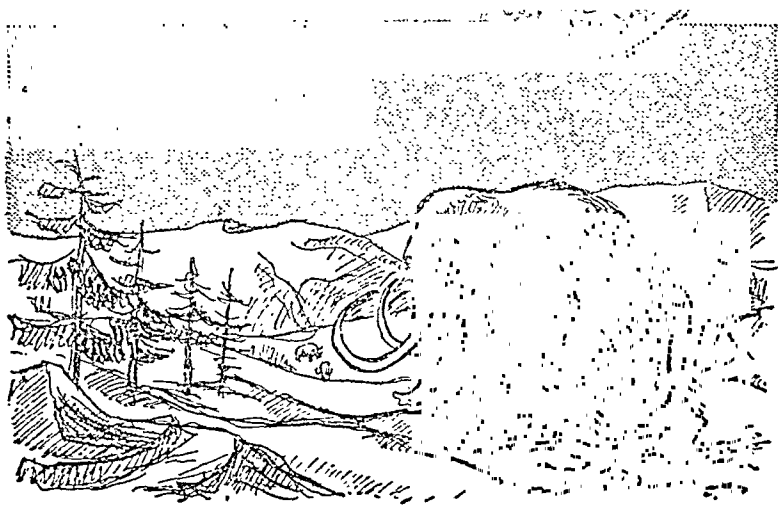
हिम युग का मैमथ

तक ब्रिटेनवासियों का सम्बन्ध है, इस प्रकार का परिवर्तन दुःख मिश्रित वरदान ही होगा। ध्रुवों के हिमछत्र पिघलेंगे, तब समुद्रों का तल ऊँचा उठेगा, और उत्तरी ध्रुव के सारे हिम का पिघलना अधिकांश ब्रिटेन को जलप्लावित कर देने के लिए काफी होगा। फिर भी, यह जलप्लावन एकाएक नहीं होगा; जब ज्वार धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ेंगे, तब सैकड़ों वर्ष तक चेतावनी मिलेगी और इंग्लैंडवासियों को किसी भीषण आकस्मिक विपत्ति से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

हिम युग की सारी पहेली को संक्षेप में एक प्रश्न में प्रस्तुत किया जा सकता है; इसका कारण क्या था ? क्या हम सूर्य से अपेक्षाकृत अधिक दूर थे, क्या सूर्य हमें अपेक्षाकृत कम ऊष्मा भेज रहा था, या शीत लहरें पृथ्वी के परि-

क्रमा-पथ में हुए किन्हीं परिवर्तनों के कारण आई थीं ? इन श्नों का उत्तर देने का यत्न करते हुए हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अत्यन्त नूतन काल का प्रसिद्ध हिम युग ही एक-मात्र हिम युग नहीं था। हमें उस शीत दौर का स्मरण है, जो उपरि कोयला-वनों के काल में शुरू हुआ था और सारे पर्मियन काल में बना रहा था; और कम से कम दो शीत दौर उससे बहुत पहले हो चुके थे।
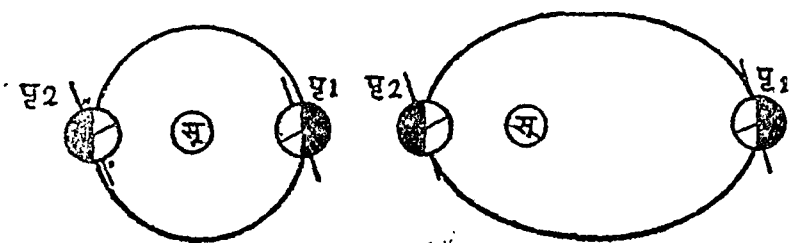
ऋतुएँ

कुछ बड़े विचित्र मत प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा गया है कि पृथ्वी के अक्ष का झुकाव बदलते रहने के कारण उत्तरी ध्रुव भी इस प्रकार इधर-उधर हटता रहा है कि यह कोयला वनों के काल में मैक्सिको के पूर्व में, सरीसृपों के युग में अलास्का के दक्षिण में और अन्तिम हिम युग में उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप में था। इस विचार को तो एकदम तिरस्कृत किया जा सकता है, किन्तु पृथ्वी के परिक्रमापथ में परिवर्तनों के सिद्धान्त पर थोड़ी-सी और चर्चा करने की आवश्यकता है।

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक पथ या 'कक्षा' में घूमती है, जो लगभग वृत्ताकृति है; इस प्रकार इन दोनों पिंडों के

मध्य दूरी सदा ही लगभग ९.३ करोड़ मील रहती है। यह हमें निश्चित रूप से मालूम है कि इस दूरी में कैम्ब्रियन कल्प से ले कर अब तक कोई बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरी ओर, सामान्यतया इस बात को अनुभव नहीं किया जाता कि उत्तरी गोलार्ध की शीत ऋतु में पृथ्वी सूर्य के अधिकतम निकट होती है। सामने दिये गये रेखा चित्र में इसका कारण दिखाया गया है: 'सू' सूर्य का प्रतीक है, 'पृ १' भूमध्यरेखा के उत्तर में ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी का प्रतीक, और 'पृ २' उत्तरी शीत ऋतु में पृथ्वी का प्रतीक है।

पृथ्वी का अक्ष (धुरी), जिस पर पृथ्वी बहुत कुछ उसी प्रकार घूमती है, जिस प्रकार किसी संतरे में बुनाई की सलाई आर-पार पिरो कर घुमाने से वह घूमता है, एकदम सीधा खड़ा नहीं है, अपितु २३॥ अंश के कोण पर झुका हुआ है। 'पृ १' वाली स्थिति में उत्तरी ध्रुव सूर्य की ओर झुका हुआ है और उस दशा में ब्रिटेन के निवासी सूर्य की ऊष्मा का पूरा लाभ पाते हैं। 'पृ २' में उत्तरी अक्षांश दूसरी दिशा में झुक गये हैं और इस दशा में प्राप्त होने वाली ऊष्मा स्पष्टतः अपेक्षाकृत कम है। इस तथ्य से, कि 'सू-पृ १' वाली दूरी वस्तुतः 'सू-पृ २' वाली दूरी से कुछ थोड़ी-सी अधिक है, कोई बड़ा अन्तर नहीं पड़ता।

परन्तु कल्पना कीजिये कि यदि पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने का पथ एक सुनिश्चित दीर्घवृत्त के रूप में बदल जाये, जैसा कि दूसरे रेखा चित्र में दिखाया गया है, तो क्या होगा? तब 'सू-पृ १' की दूरी 'सू-पृ २' की अपेक्षा बहुत अधिक हो जायेगी। ग्रीष्म ऋतु तक में उत्तरी गोलार्ध ठंडा

रहेगा और शीत ऋतु में जमा हिम कभी पिघलेगा ही नहीं।

इस सिद्धान्त में कठिनाई यह है कि इसके अनुसार हिम युग केवल उत्तरी प्रदेशों में ही होगा, जब कि हम इस विषय में काफी निश्चित हो सकते हैं कि कम-से-कम अत्यन्त नूतन काल में शीत सारे भूमंडल पर फैल गया था। संभाव्यतः पर्मियन कल्प में भी ऐसा ही हुआ था।

एक ऐस्टोनियाई खगोल वैज्ञानिक डाक्टर ई० जे० ऊपिक ने, जो इस समय उत्तरी आयरलैंड में आर्माघ वेधशाला में निदेशक हैं, इस सारे प्रश्न का भली-भाँति अध्ययन किया है। उनके कार्य के परिणामों से पता चलता है, दोषी स्वयं सूर्य ही है। हिमयुग के दिनों में वस्तुतः हमें सामान्य की अपेक्षा सूर्य की कम ऊष्मा प्राप्त होती है।

यदि हम पृथ्वी की किसी घने बादल के आवरण में लिपटे होने की कल्पना करें, तो हम समझ सकते हैं कि यह बादल सूर्य की बहुत सी गर्मी को परावर्तित कर देगा और उसे पृथ्वी तक बिल्कुल पहुँचने ही नहीं देगा, जिससे पृथ्वी की सतह का तापमान गिर जायेगा। इसे हिमनदन का एक संभावित कारण बताया गया है; परन्तु यह समझ पाना कठिन है कि इस प्रकार के मेघाच्छन्न दौर क्यों आने चाहिएँ। यह भी सुझाया गया है कि आकाश में अपनी यात्रा करते हुए सूर्य कभी-कभी विशाल, किन्तु हल्के, गैस के बादलों में से गुज़रता है, जिससे गैस गर्मी देने वाली कुछ किरणों को उनके पृथ्वी तक पहुँचने से पहले ही सोख लेती है। डॉक्टर ऊपिक ने इन सब विचारों की पड़ताल की है, किन्तु यह निष्कर्ष निकाला है कि सूर्य के ऊर्जा-उत्पादन में होने वाले वास्तविक परिवर्तन ही इन शीत

लहरों के लिए उत्तरदायी हैं।

सूर्य एक तारा है, एक अत्यन्त विशाल गोलक (गोला), जो अरबों वर्षों से आकाश में ऊर्जा बिखेरता रहा है और अब भी उसमें इतनी काफी शक्ति बची हुई है कि वह और भी अरबों वर्षों तक ऊर्जा बिखेरता रह सकता है। किन्तु यह 'ज्वलन' का सीधा-सादा मामला नहीं है। यदि हम सूर्य के आकार जितने बड़े कोयले के एक पिंड की कल्पना कर सकें, तो वह भी केवल कुछ हज़ार वर्षों में ही जल कर पूरी तरह समाप्त हो जायेगा; इसलिए सूर्य की ऊर्जा का स्रोत अवश्य ही कहीं अधिक जटिल होना चाहिए। गत पचास एक वर्षों में हमने यह पता चला लिया है कि सूर्य में क्या हो रहा है।

सूर्य में बहुत बड़ी मात्रा में एक हल्की गैस हाइड्रोजन विद्यमान है, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, इस सारे ब्रह्मांड में सबसे अधिक आम तौर से पाया जाने वाला पदार्थ है। यदि हम हाइड्रोजन के चार परमाणुओं को मिला सकें, तो हम एक अन्य हल्की गैस, हीलियम, का परमाणु बना सकते हैं। किन्तु हाइड्रोजन के चार परमाणुओं का द्रव्यमान हीलियम के एक परमाणु से तनिक सा अधिक होता है, इसलिए थोड़ी सी ऊर्जा बाकी बच जाती है, जो निर्मुक्त हो जाती है। सूर्य के अन्दर नीचे गहराई में, जहाँ तापमान लगभग २ करोड़ डिग्री है, यही बात निरन्तर हो रही है, और जब-जब हीलियम का एक नया परमाणु बनता है, तब-तब हर बार विकिरण की थोड़ी सी मात्रा बाहर निकलती है। सूर्य में हाइड्रोजन के इतने अधिक परमाणु परस्पर मिल कर हीलियम के परमाणु बनने की प्रतीक्षा में हैं कि यह प्रक्रिया सूर्य को देदीप्यमान रखने के

लिए पर्याप्त है।

सूर्य जैसे एक विशाल सक्रिय गोलक में ऊर्जा के उत्पादन में घट-बढ़ होना अनिवार्य ही है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोयले की आग कभी तेज़ और कभी मन्द होती रहती है। डॉक्टर ऊपिक ने सूर्य के 'मन्द पड़ने' (फ़ेडिंग) की बारम्बारता का हिसाब लगाया है और उन्होंने देखा कि वह पृथ्वी के शीत दौरों के साथ ठीक मेल खाता है। तब, ऐसा प्रतीत होता है कि हिम युगों का कारण केवल सूर्य की सतह का अस्थायी रूप से ठंडा हो जाना ही है।

इस विचार से हमें यह बात समझ में आ जाती है कि हम कितने क्षुद्र और असहाय हैं। हम पूर्णतया सूर्य की दया पर निर्भर हैं। एक बार सूर्य और 'मन्द पड़ा' कि ध्रुव प्रदेशों का हिम फिर भूमध्य रेखा की ओर फैलने लगेगा; वह ब्रिटेन के खेतों और बागों को ढक लेगा और लोगों के लिए भीषणतम कठिनाई उपस्थित कर देगा और यदि मामला बहुत ही आगे बढ़ गया, तो समुद्र भी जम जायेंगे और सब पौधे मर जायेंगे और हम स्वयं भी बहुत कष्ट पाकर समाप्त हो जायेंगे। सौभाग्य से डॉक्टर ऊपिक की गणनाओं ने यह भी दिखला दिया है कि इस प्रकार कोई बात होने वाली नहीं है। हम एक और सुखद दौर में पहुँचने वाले हैं और पृथ्वी सम्भाव्यतः नये हिम युग का कुछ भी संकेत मिलने से पहले अभी कुछ हज़ार वर्षों तक और अधिक कोष्ण होगी।

इस पुस्तक में पृथ्वी की कहानी सुनाई जा रही है, न कि मनुष्य की; इसलिए यहाँ इतना अवकाश नहीं है कि मनुष्य के प्रारम्भिक संघर्षों का विस्तार से वर्णन किया जा सके;

किन्तु इतना हमें अवश्य मालूम है कि अभिनूतन कल्प के कोष्ण कालों में अर्ध-मानव, कपि-सदृश प्राणी धीरे-धीरे, किन्तु सुनिश्चित रूप से असली मानवों में परिवर्तित हो गये थे। जहाँ तहाँ मिले खण्डों से हमें पता चलता है कि पहली दो शीत लहरों के वीच में, लगभग ५,००,००० ईसा पूर्व में, 'पेकिन मानव' और 'जावा मानव' जैसे प्राणी प्रकट हुए थे, जिनके लक्षणों में 'बुद्धिमत्ता' के चिह्न प्रकट होने लगे थे,[1] ३,००,००० ईसा पूर्व का 'हाइडलबर्ग मानव' इससे भी अधिक मानवीय है, और जब हम अब से १,००,००० वर्ष पूर्व के 'नियंडरथल मानव' तक पहुँचते है, तो हमें पहले-पहल तो यही निश्चय नहीं हो पाता कि हम किसी कपि को देख रहे हैं या मानव प्राणी को। ये नियंडरथली मानव, (इनका यह नाम इसलिए पड़ा कि इनमें से एक की खोपड़ी जर्मनी में नियंडरथल नामक स्थान पर एक गुफा में पाई गई थी) मोटे-ताज़े, और झुक कर चलने वाले थे और उनके जवड़े भारी होते थे और माथा सपाट होता था। हमारे हिसाब से वे ठिगने थे और ठीक ढंग से चलने के बजाय भदभदाते ए चलते थे, जिससे वे

---

१. अभी हाल तक 'पिल्टडाउन मानव' को भी, जिसकी खोपड़ी लगभग आधी शताब्दी पहले ससैक्स में स्थित पिल्टडाउन में खुदाई में मिली थी, इसी समूह में सम्मिलित किया जाता था। परन्तु अब यह पता चला है कि पिल्टडाउन मानव का कभी अस्तित्व था ही नहीं। वे अवशेष अंशतः एक खोपड़ी से, जो भू-वैज्ञानिक दृष्टि से थोड़ी ही पुरानी थी और अंशतः एक आधुनिक बन्दर के जवड़े से मिल कर बने थे। यह मज़ाक किसने किया था, यह पता नहीं चला।
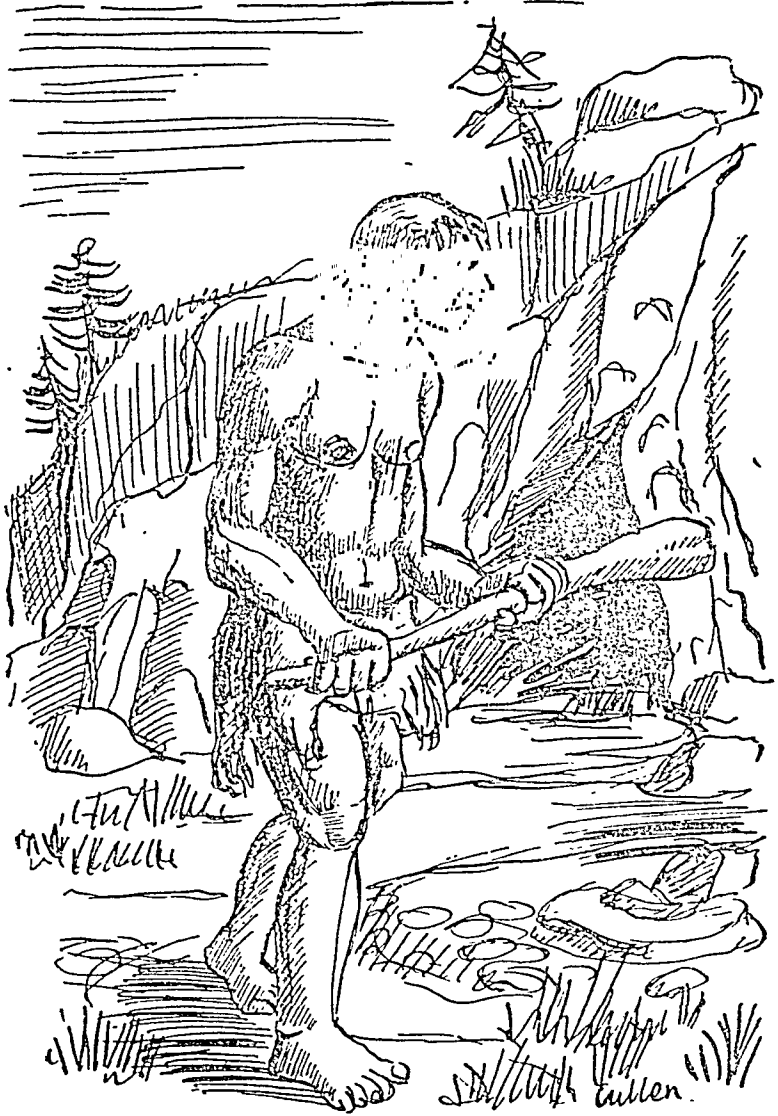
आदि मनुष्य

बहुत ही हिंस्र-से दिखाई पड़ते थे। दूसरी ओर, ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने मृतकों को गाड़ते थे, चमड़े के वस्त्र पहनते थे और उन्हें आग जलाना आता था और उनके शिकारी छिपटी उतारे हुए पत्थर के पैने औज़ारों का प्रयोग करते थे।

मानव की अन्तिम परख यह प्रश्न है : क्या वह बात कर सकता है ? नियंडरथली मानवों के जबड़ों से यह पता चलता है कि वे, जिस अर्थ में हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, बात नहीं कर सकते थे, और इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वे पूरी तरह मानव नहीं थे। दूसरी ओर, 'क्रोमैग्नर्ड', जो पहले-पहल एशिया में हिम युग के अन्तिम शीत काल में प्रकट हुए थे, और वहाँ से धीरे-धीरे फैलते हुए यूरोप पहुँचे थे, असंदिग्ध रूप से मानव थे। यह कहा जाता है कि उनको आजकल की कुछ कम विकसित जातियों से अलग मुश्किल से ही पहचाना जा सकता है। यह समझ में आने वाली बात है कि उन्होंने शीघ्र ही कपि मानवों का स्थान ले लिया और यह सम्भाव्य है कि भीषण लड़ाइयाँ लड़ी गई होंगी। असली मनुष्य जीत गये, क्योंकि उनके मस्तिष्क अपेक्षाकृत अच्छे थे और अभागे कपि मानवों का सफ़ाया हो गया।

हमें एकाएक कूद कर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिए और न ही यह कह देना चाहिए कि ये क्रोमैग्नर्ड हमारे सीधे पूर्वज हैं। यह सम्भव है कि वे हमारे पूर्वज न हों, और यह भी कि वे तृतीय महाकल्प के तरुवासी प्राणियों से विकास की एक अन्य रेखा की अन्तिम अवस्थाओं के प्रतिनिधि मात्र हों। चाहे यह बात सही हो या न हो, किन्तु असली मानव—हमारे पूर्वज हिम युग की समाप्ति से काफ़ी पहले प्रकट हो चुके थे। बर्फ

की मुख्य परतों के लुप्त होने के साथ-साथ, लगभग ८००० ईसा पूर्व में हम लगभग ऐतिहासिक काल में आ पहुँचते हैं और नूतनतम काल की कहानी—मनुष्यों ने पहले-पहल किस प्रकार पशुओं को पालना, भूमि पर खेती करना, समुदाय, राष्ट्र और महान् सभ्यताओं का निर्माण शुरू किया—भू-विज्ञान का विषय नहीं है।

पृथ्वी की कहानी एक लम्बी और आकर्षक कहानी रही है। हम चौथे अध्याय के आरम्भिक भाग में इसके रंगमंच पर आ गये थे : अभी कितने अध्याय बाकी हैं, यह हमें मालूम नहीं है। जब हम अतीत की ओर मुड़ कर देखते हैं, तब तक हम इस सब की आसानी से कल्पना कर सकते हैं—लाल गर्म पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी हुई, यहाँ तक कि इस पर समुद्री जीव-जन्तु निवास करने लगे; विशाल ज्वार-भाटों का उतार और चढ़ाव; सर्व प्रथम उभयचर और उनके बाद कोयला वनों के ऊँचे-ऊँचे पौधे; भयावह डाइनोसौर; वह आकस्मिक परिवर्तन, जिसने संसार को ऐसे भंयकर दैत्यों से मुक्ति दिलाई, और अन्त में स्तनपायी प्राणियों का शनैः-शनैः महानता की ओर उत्थान, जब तक कि हम स्वयं अपने काल तक नहीं पहुँच जाते। इस पुस्तक के पृष्ठ धुँधले पड़ गये हैं और सम्भव है कि उन्हें पढ़ने में कहीं-कहीं हमसे गलती भी हो गई हो, फिर भी मुख्य कथावस्तु स्पष्ट है।

अध्याय ग्यारह

पृथ्वी के भीतर

अव तक हमने लगभग सारी की सारी चर्चा पृथ्वी की सतह पर विद्यमान दशाओं की ही की है और उस चिर प्राचीन समय से लेकर, जब हमारी पृथ्वी एक तप्त पिंड थी, आधुनिक काल तक की कहानी बाँच ली है। परन्तु यह समझना गलत होगा कि सब की सब मूल ऊष्मा समाप्त हो चुकी है। पृथ्वी के अन्दर नीचे गहराई में अब भी गर्मी बाकी है; यह 'हलवा' अभी तक भी गर्म है।

यद्यपि हम पृथ्वी पर रहते हैं, परन्तु इसके अभ्यन्तर (भीतरी भाग) के विषय में हमारा ज्ञान निराशाजनक रूप से कम है। सिद्धान्ततः हम अवश्य ही पृथ्वी में नीचे की ओर बिल बनाते जा सकते हैं, और तब तक खोदते जा सकते हैं, जब तक कि हम पृथ्वी की पपड़ी को पार ही न कर लें, परन्तु व्यवहारतः ऐसा किया नहीं जा सकता। इस पपड़ी की मोटाई ४० मील से अधिक है, जब कि संसार में मनुष्य-निर्मित गहरे से गहरे छेद, जो कैलिफ़ोर्निया के तेल-कूप हैं, केवल २०,००० फुट से कुछ ही अधिक पर जाकर रुक जाते हैं।

व्यावहारिक अनुभव से एक बात पता चली है : ज्यों-ज्यों हम नीचे की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों तापमान बढ़ता जाता है। तापमान की इस वृद्धि की दर प्रति ५० फुट नीचे जाने पर एक डिग्री फ़ारनहाइट है, परन्तु यह मान सब जगह सदा

एक-सा नहीं रहता और कुछ स्थानों पर अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक होता है। इसमें स्थानीय दशाओं का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

यदि तापमान की वृद्धि की यह दर पृथ्वी के ठीक मध्य भाग तक चलती जाये, तो पृथ्वी के केन्द्र में तापमान ४,००,००० डिग्री के आसपास कुछ होगा। यह सूर्य की सतह पर विद्यमान तापमान से भी कई गुना अधिक है, और इतना अधिक तापमान संभव प्रतीत नहीं होता; यदि इतना तापमान होता, तो संभाव्यतः हमें उसके प्रभाव पृथ्वी की सतह तक पर अनुभव होने चाहिए थे। (यद्यपि यह सत्य है कि इस बात को लेकर बहुत युक्ति-प्रत्युक्तियाँ हो चुकी हैं)। इसलिए ज्यों-ज्यों हम भूमंडल में नीचे की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों प्रति पचास फुट पर होने वाली वृद्धि अवश्य ही कम होती जानी चाहिए। संभाव्यतः पृथ्वी के केन्द्र में तापमान केवल कुछ हज़ार डिग्री ही है।

यदि परिस्थितियाँ साधारण हों, तो इतने तापमान पर अधिकांश शैल पिघल जायेंगे, परन्तु पृथ्वी के केन्द्र के निकट की दशाएँ हमारे नित्य प्रति के मानकों की दृष्टि से 'साधारण' नहीं हैं। पदार्थ का प्रत्येक खंड उसके ऊपर रखी हुई परतों के बोझ से दब रहा है और केवल २५ मील नीचे जाकर ही यह दबाव प्रति वर्ग फुट पर १०,००० टन हो जाता है। इस प्रकार की वस्तु शैलों के व्यवहार को बदल देती है, हालाँकि पृथ्वी के केन्द्रीय तापमान के ठीक-ठीक मान का अज्ञान हमारे लिए अभी तक बहुत बाधक बना हुआ है।

यदि हम सीधे प्रत्यक्ष ढंग से अन्वेषण नहीं कर सकते,

तो हमें अपनी जानकारी किन्हीं अन्य रीतियों से प्राप्त करनी होगी और पहली अत्यावश्यक बात यह पता करना है कि पृथ्वी कितनी घनी है। इस दिशा में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयोग १७७४ में ब्रिटेन के तत्कालीन राजकीय खगोल वैज्ञानिक (ऐस्ट्रोनोमर रौयल) नैविल मैस्केलीन ने किये थे। मैस्केलीन को अवश्य ही यह मालूम था कि पदार्थ के प्रत्येक खंड में 'गुरुत्व' का खिचाव होता है और यह कि जितना अधिक विशाल कोई पिंड होगा, उतना ही अधिक उसका कुल खिचाव होगा। इस बात को स्पष्ट करने का सर्वोत्तम तरीका यह है कि पृथ्वी पर गिरती हुई एक क्रिकेट की गेंद का चित्र अपने मन में खींचा जाये। गेंद इसलिए गिरती है कि पृथ्वी का गुरुत्व उसे अपनी ओर खींचता है, परन्तु यह कहना भी उतना ही सही है कि गेंद पृथ्वी से मिलने के लिए उसे 'ऊपर की ओर' खींचने का प्रयत्न करती है। क्योंकि पृथ्वी गेंद की अपेक्षा बहुत विशाल और भारी है, इसलिए गेंद तो तेज़ी से गति करती है, और इस प्रक्रिया में पृथ्वी को जो बहुत ही नन्हा-सा झटका लगता है, उसे संभवतः उन सूक्ष्म से सूक्ष्म उपकरणों द्वारा भी नहीं नापा जा सकता, जिनके कि हमारे द्वारा कभी भी बनाये जा सकने की संभावना है; किन्तु फिर भी उसका प्रभाव तो वहाँ है ही।

यद्यपि क्रिकेट की गेंद का गुरुत्वाकर्षण का खिचाव बहुत ही थोड़ा होता है, किन्तु किसी पर्वत का गुरुत्वाकर्षण का खिचाव उससे कहीं अधिक होता है। मैस्केलीन की पद्धति यह थी कि वह स्कॉटलैंड के एक पर्वत स्कीहैलियन के, जो कुछ-कुछ पिरामिड की आकृति का है, एक पार्श्व में उससे कुछ

दूरी पर एक पैंडुलम लटकाता था । उस पैंडुलम को सीधा नीचे की ओर लटकना चाहिए था, किन्तु वह वस्तुतः सीधा नहीं लटकता था—पर्वत का खिचाव उसे तनिक-सा एक ओर को खींच लेता था । इस खिचाव को नाप कर मैस्केलीन यह पता चलाने में सफल हो गया कि सारी पृथ्वी का भार उस पर्वत की अपेक्षा कितना अधिक होगा । क्योंकि पर्वत का द्रव्यमान मालूम था, इसलिए पृथ्वी का द्रव्यमान और घनत्व गणित द्वारा निकाला जा सकता था ।

यह कहना अनावश्यक है कि इसमें कई गलतियाँ ठीक की जानी हैं और मैस्केलीन के आरम्भिक परिणाम बहुत सही नहीं थे । लेकिन वे सही क्रम में थे और अब क्योंकि अधिक विश्वसनीय पद्धतियाँ विकसित की जा चुकी हैं, इसलिए यह पता चल गया है कि पृथ्वी का भार उसकी अपेक्षा साढ़े पाँच गुना अधिक है, जितना कि इतने ही बड़े भूमंडल का तब होता, जब कि वह सब का सब केवल जल से बना होता । लेकिन पृथ्वी की सतह पर के शैलों का घनत्व जल से केवल २॥ से ले कर ३॥ गुना तक ही है, इसलिए कुल घनत्व के अंक को ५॥ तक पहुँचाने के लिए पृथ्वी में अपेक्षाकृत अधिक भारी केन्द्रीय क्रोड (कोर) अवश्य होनी चाहिए। बिल्कुल ठीक क्रोड पर घनत्व ८ और १० के बीच होना चाहिए ।

विचित्र बात यह है कि पृथ्वी के अभ्यन्तर के विषय में हमारी जानकारी का सर्वोत्तम स्रोत भूकम्प की तरंगों से प्राप्त होता है । जब पृथ्वी की पपड़ी के नीचे का गर्म पदार्थ ठंडा होता है, तब वह सिकुड़ता है । इससे बाहरी ठोस पपड़ी पर अत्यधिक तनाव पड़ता है, और यह तनाव तब तक बढ़ता

जाता है, जब तक कि कोई वस्तु राह न दे दे। शैल फिसल जाते हैं, या मुड़-तुड़ जाते हैं और उसका फल भूकम्प होता है। वास्तविक धक्का सामान्यतया पृथ्वी की सतह से ५ से ले कर ३० मील तक नीचे लगा होता है (यद्यपि कुछ इससे भी कहीं अधिक गहराई पर होते हैं) और इसे भूकम्प का 'उद्गम केन्द्र' (फोकस) कहा जाता है। यह धक्का उद्गम केन्द्र के ठीक ऊपर पृथ्वी की सतह पर पहुँच जाता है और सतह वाला यह स्थान भूकम्प का 'अधिकेन्द्र' (ऐपिसैंटर) कहलाता है।

सूक्ष्म उपकरण भूकम्प के धक्कों को हज़ारों मील की दूरी पर नाप सकते हैं और यह पता चला है कि तीन प्रकार की तरंगे संचरित होती हैं। इनमें से पहली तो 'पी' तरंगें अर्थात् धकेल तरंगें होती हैं; इनकी सबसे अच्छी तुलना आगे-पीछे खड़े रेलगाड़ी के उन डिब्बों के साथ की जा सकती है, जिन्हें इंजिन ने धक्का दिया हो—पहला डिब्बा दूसरे डिब्बे को धकेलता है, दूसरा तीसरे को और इसी तरह वे पंक्ति के अन्त तक एक दूसरे को धकेलते चले जाते हैं। दूसरे नम्बर पर 'ऐस' तरंगें होती हैं, जिन्हें कम्पन तरंगें[1] कहा जा सकता है; ये उन तरंगों से मिलती-जुलती होती हैं, जो किसी गद्दे में तब उत्पन्न होती हैं, जब उसे एक किनारे से पकड़ कर हिलाया जाता है। अन्त में 'ऐल' तरंगें होती हैं, जिसका मतलब है लम्बी तरंगें; ये पृथ्वी की परिधि के साथ-साथ चलती हैं और अधिकांश भौतिक नुकसान इनसे ही होता है।

---

१. बिल्कुल ठीक-ठीक कहा जाये तो 'पी' और 'ऐस' अक्षर धकेल (पुश) और कम्पन (शेक) के प्रतीक न हो कर प्राइमरी (प्राथमिक) और सैकंडरी (गौण) के प्रतीक हैं।

'पी' अर्थात् प्राथमिक तरंगें सबसे तेज़ चलती हैं और इस प्रकार अधिकेन्द्र से बहुत दूर रखे उपकरणों पर सबसे पहले ये ही अंकित होती हैं; उसके बाद 'ऐस' तरंगें आती हैं और सबसे अन्त में 'ऐल' तरंगें। यद्यपि किसी ठोस पदार्थ में से तो 'पी' और 'ऐस', दोनों ही तरंगें गुज़र जाती है, किन्तु किसी तरल पदार्थ में से केवल 'पी' तरंगें ही गुजर पाती हैं; इस प्रकार 'ऐस' तरंगें कट जाती हैं। इसलिए यदि यह मान लिया
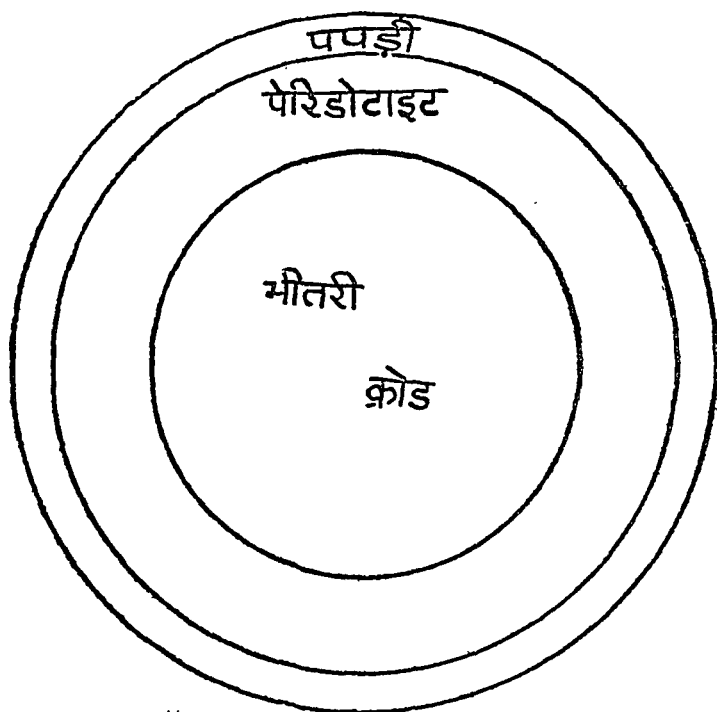
पृथ्वी की अनुप्रस्थ काट

जाये कि दोनों प्रकार की तरंगें पृथ्वी की तरल क्रोड में से हो कर गति करने का यत्न करती हैं, तो पृथ्वी के कुछ प्रदेश ऐसे

होंगे, जिनमें पृथ्वी की सतह इन अवरुद्ध 'ऐस' तरंगों से सुरक्षित रहेगी और वहाँ केवल 'पी' और 'ऐल' तरंगें ही बच जायेंगी। इन प्रभावों के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि पृथ्वी में एक केन्द्रीय क्रोड है, जिसका व्यास शायद ४००० मील है और उसमें से 'ऐस' तरंगें गुज़र नहीं सकतीं और इसलिए वह क्रोड अवश्य ही कुछ कम या अधिक तरल होनी चाहिए। यह मुख्यतया लोहे से या निकल-लोहे से बनी प्रतीत होती है।

इस प्रकार हम इस बात का बहुत ही तर्कसंगत चित्र खींच सकते हैं कि पृथ्वी किस प्रकार बनी है। पपड़ी स्वयं, जो ४० और ५० मील के बीच मोटी है, ग्रैनाइट से बनी है और उसमें तलछट ऊपर की ओर है। इस पपड़ी के नीचे एक परत है, जो मुख्यतया एक शैल से बनी है, जिसे पैरिडोटाइट कहा जाता है। यह परत ६०० मील मोटी है, और उसके नीचे फिर एक-एक पथरीले पदार्थ की एक परत है, जो लगभग २००० मील तक चली गयी है। उसके बाद हम मुख्य लोहे या निकल लोहे की क्रोड तक पहुँच जाते हैं।

इसलिए भूकम्पों के भी अपने उपयोग हैं? किन्तु वे बहुत अधिक विनाशकारी हो सकते हैं, विशेष रूप से तब, जब कि उनके अधिकेन्द्र समुद्र के नीचे हों, जिससे वे बहुत ही बड़ी-बड़ी लहरें उठा सकते हैं। कुछ नगरों को, जैसे कि जापान में योकोहामा को और पुर्तगाल में लिस्बन को, अतीत में भारी क्षति उठानी पड़ी है। भूकम्प मुख्यतया कुछ निश्चित क्षेत्रों तक ही सीमित हैं; जापान इनमें सबसे बुरे क्षेत्रों में से एक है, किन्तु ब्रिटेन में भी हल्के धक्के बहुधा अनुभव होते रहते हैं। ब्रिटेन का शायद सबसे प्रचंड भूकम्प, जिसका कि अभिलेख मिलता

है, १८९६ के दिसम्बर मास में हियरफोर्डशायर में आया था। इससे कई सौ वर्ग मील के प्रदेश में नुकसान हुआ था, किन्तु सौभाग्य से किसी की जान नहीं गई।

कुछ अवसरों पर, हम पृथ्वी के भीतर से निकले पदार्थ का भी अध्ययन कर सकते हैं—जब इस प्रकार का पदार्थ उन 'जलते हुए पर्वतों', सक्रिय ज्वालामुखियों से बाहर निकलता है। ज्वालामुखी पर्वतों को पृथ्वी की सुरक्षा-कपाटी कहा गया है, क्योंकि वे पपड़ी के ऊपरी भाग के नीचे विद्यमान अत्यधिक तप्त गैस और पिघले हुए शैलीय पदार्थ (मैग्मा) को बाहर निकलने का मार्ग दे देते हैं। कुछ ज्वालामुखी पर्वत, जैसे कि भूमध्य सागर में प्रसिद्ध स्ट्रौम्बोली है, निरन्तर उद्गार करते रहते हैं; कुछ अन्य ज्वालामुखी, जैसा कि और भी अधिक प्रसिद्ध वैस्यूवियस है, केवल कभी-कभी प्रचंड रूप से फटते हैं और उसके बाद लम्बे समय तक अपेक्षाकृत शान्त पड़े रहते हैं। कुछ अन्य ज्वालामुखी ऐसे हैं, जिनकी सारी हलचल बहुत समय पूर्व ही बन्द हो चुकी है और इस प्रकार वे निर्वापित (बुझे हुए) ज्वालामुखी हैं। इस प्रकार के कुछ ज्वालामुखी ब्रिटेन तक में मिलते हैं; यह भी सम्भव है कि श्रौपशायर में स्थित रेकिन भी, जो केवल १००० फुट ऊँचा मामूली सा शिखर है, किसी समय ज्वालामुखी रहा हो, हालाँकि इस बात को पूरे निश्चय के साथ कह पाना कठिन है।

सामने दिये गये आरेख में ज्वालामुखीय उद्गार का सिद्धान्त दिखलाया गया है। पृथ्वी के अन्दर कम से कम २० मील नीचे आधे पिघले हुए, गर्म पदार्थ की एक परत है। ज्वालामुखीय मार्ग में एक ठोस 'डाट' के नीचे दबाव बढ़ना शुरू
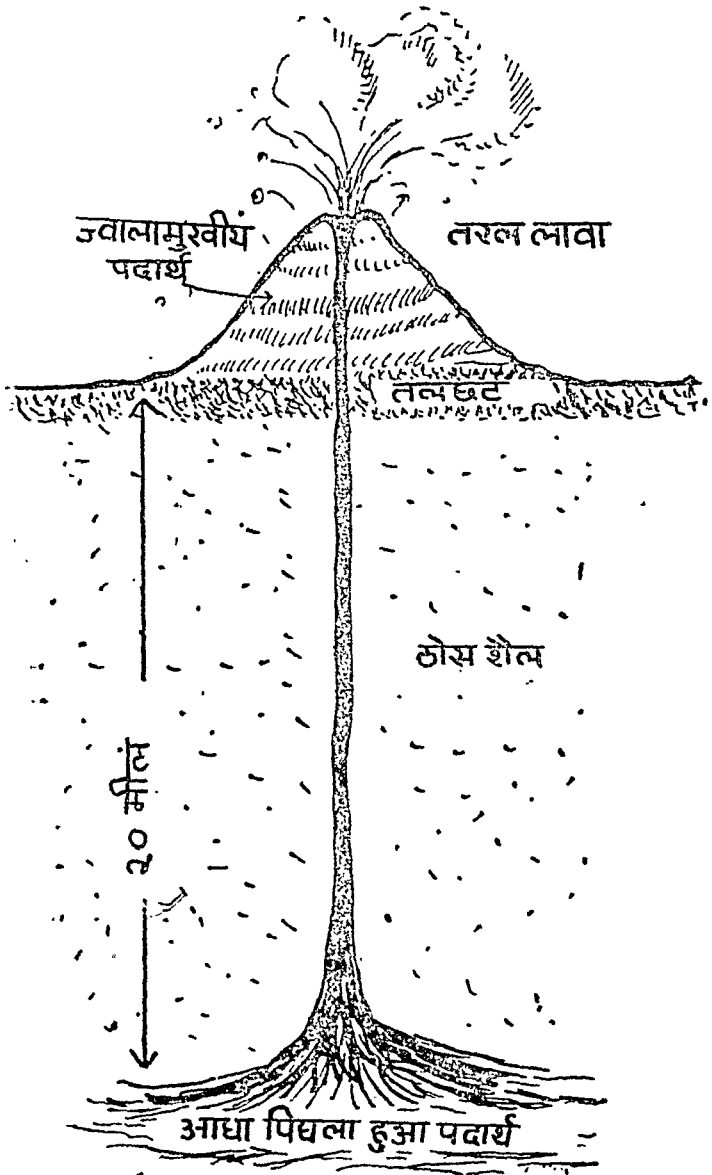
ज्वालामुखी का आरेख (डायाग्राम)

होता है और जब यह दबाव बढ़ते-बढ़ते एक खास बिन्दु तक पहुँच जाता है, तब डाट उड़ जाती है और उद्गार शुरू हो जाता है। उस छेद में से लावा ज़ोर से ऊपर की ओर उछलता है; उसमें से कुछ अवशिष्ट राख (क्लिंकर) या 'स्कोरिया' (छिद्रिल लावा) के रूप में वापस पृथ्वी पर गिर पड़ता है; तरल लावा बाहर निकलता है और लावा के बड़े-बड़े टुकड़े भी आकाश में दूर तक उछलते हैं और उनमें भाप भरी होने के कारण वे ऊपर जा कर फटते हैं और इसलिए उन्हें ज्वालामुखीय बम कहा जाता है। ज्वालामुखी के विवर के मुख के चारों ओर पदार्थ का ढेर लगता जाता है और वह एक शंकु-सा बन जाता है। जब गैस का वेग से निकलना बन्द हो जाता है, तब लावा ठंडा हो जाता है, और ठोस डाट फिर बन जाती है, जिससे उद्गार समाप्त हो जाता है।

संसार का सबसे प्रसिद्ध ज्वालामुखी अवश्य ही वैस्यूवियस है, जो इटली में नेपल्स के निकट है। ६३ ईस्वी तक इसे निर्वापित (बुझा हुआ) ज्वालामुखी समझा जाता था और ७२ ईसा पूर्व में हुए प्रसिद्ध दास विद्रोह में स्पार्टकस के नेतृत्व में रोमन दासों ने सचमुच ही इसके विवर में जाकर शरण ली थी और वहाँ उन पर उन सैनिकों ने आक्रमण किया था, जो दीवार के सहारे-सहारे उस विवर में उतारे गये थे। ६३ ईस्वी में कुछ हल्के धक्के अनुभव हुए, किन्तु उनसे पास-पड़ोस में रहने वाले लोग कोई बहुत चिन्तित नहीं हुए। ७९ ईस्वी के अगस्त मास में एकाएक भीषण विपत्ति आई। धक्के बढ़ते गये और उनके बाद भीषण विस्फोट हुए, जिनके कारण इस ज्वालामुखी का आधा शंकु ही आकाश

में उड़ गया; भाप और गैस वेग से वाहर निकली, गर्म राख सब ओर बरसने लगी और दो अभागे नगर, पौम्पियाई और हरक्युलेनियम, पूर्णतया नष्ट हो गये और उनमें बहुत लोग मारे गये। वहाँ जिन लोगों के प्राण गये, उनमें प्रसिद्ध रोमन लेखक प्लिनी ज्येष्ठ भी था।

उसके बाद, कभी जल्दी और कभी देर से बीच-बीच में इस ज्वालामुखी के अनियमित उद्गार होते रहे हैं, यद्यपि वे कभी उस पैमाने पर नहीं हुए, जिस पर कि ७९ ईस्वी वाला स्फोट था। जब यह ज्वालामुखी 'शान्त' होता है, तब इसके शंकु के ऊपर चढ़ना और विवर के अन्दर झाँकना संभव होता है, हालाँकि इस काम में सावधानी वरतनी होती है, क्योंकि इसमें से बहुत बदबूदार गैसें निकलती हैं। एक अन्य इतालवी ज्वालामुखी, ऐटना, ४०० ईसा पूर्व से कुछ कम या अधिक निरन्तर ही उद्गार कर रहा है, और शंकु का ऊपरी भाग बहुत बार उड़ चुका है, किन्तु बाद में वह फिर बन जाता है। एक बार, १६६९ में, पर्वत का समूचा शिरोभाग ढह गया और उसमें से निकले लावे की धारा में पन्द्रह कस्बे और गाँव समा गये। स्ट्रौम्बोली, जो भूमध्य सागर में लिपारी द्वीपों में है, वस्तुतः एक द्वीप है, जिसका व्यास पाँच मील है, और शंकु लगभग आधा मील ऊँचा है; उच्चतम शिखर से एक हज़ार फुट नीचे पर्वत के पार्श्व में एक छेद है, जिसमें से निरन्तर भाप निकलती रहती है और पदार्थ को दूर समुद्र में फेंकती रहती है। दमकता हुआ लावा पर्वत के आस-पास मंडराते हुए भाप के बादल को प्रकाशित करता रहता है, और इसलिए स्ट्रौम्बोली को 'भूमध्य सागर का प्रकाशस्तम्भ'

कहा जाता है ।

अभिलिखित इतिहास में सबसे भीषण विस्फोट (उद्गार) २७ अगस्त १८८३ को क्राकातोआ में हुआ, जो जावा और सुमात्रा के बीच में है। द्वीप का दो-तिहाई भाग विस्फोट में उड़ गया; उस पर्वतीय स्थल पर एक हज़ार फुट से भी अधिक गहरा पानी भर गया और ६०० मील दूर सैलैबस द्वीप में विस्फोट की आवाज़ इतने ज़ोर की सुनाई पड़ी कि यह देखने के लिए जहाज़ समुद्र में भेजे गये कि कहीं किसी जहाज़ में तो विस्फोट नहीं हो गया है। धूल और भाप का गुब्बारा आकाश में वीस मील की ऊँचाई तक गया और ऊपर के वायुमंडल में दो वर्ष से भी अधिक तक छाया रहा, जिससे सूर्य ग्रौर चन्द्रमा के चारों ओर जादू के से सुन्दर 'वलय' (घेरे) दिखाई पड़ा करते थे। डेढ़-डेढ़ हज़ार मन भारी पत्थर की शिलाएँ समुद्र तट से कई मील दूर स्थल भाग में जाकर पड़ीं। इस धक्के से समुद्र में जो ज्वार की लहरें उठीं, उनसे तीस हज़ार से अधिक व्यक्ति डूब गये।

लगभग इतना ही बुरा माउंट पैली का विस्फोट (उद्गार) था, जो फ्राँसीसी पश्चिमी इंडीज़ के एक द्वीप मार्तिनिक में १९०२ में हुआ था। उस वर्ष अप्रैल मास में ज्वालामुखी की सक्रियता बढ़ गई और गन्धक से भरी गैसें इतनी मात्रा में बाहर निकलीं कि सेंट पियैर नगर में, जो वहाँ से पाँच मील दूर था, पशु उनसे अभिभूत हो गये। ८ मई को एका-एक एक बहुत बड़ा काला बादल ज्वालामुखी के विवर में से निकल कर ऊपर उठा और उसने सेंट पियैर पर चोट की, और उसे बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। या तो गर्म गैसों के

कारण, या जलती हुई चट्टानें गिरने के कारण इमारतों में आग लग गई और उसके कुछ ही मिनट बाद कीचड़ और पत्थरों की घोर वृष्टि हुई, जिसने विनाश में रही थोड़ी बहुत कसर को भी पूरा कर दिया। सेंट पियैर के ३०,००० निवासियों में से केवल दो बच पाये; और बाद में जब फिर एक बार इस ज्वालामुखी के विवर तक जा पाना संभव हुआ, तो यह पाया गया कि उसके ऊपर एक विशाल शंकु बन गया है और उस शंकु के ऊपर ठोस लावे का एक सर्पिल शिखर बना हुआ है।

इनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और कहीं कम विनाशकारी हवाइ, 'शाश्वत अग्नि के देश' के ज्वालामुखी हैं। स्वयं हवाइ में दो ज्वालामुखी हैं, मौना लोआ और किलौइया। इनमें से प्रत्येक का विवर 'सीढ़ियों' की एक परम्परा से बना हुआ है, जो ठोस लावे से बने हुए एक फर्श तक पहुँचाती हैं; यह फर्श नीचे की आग के ऊपर बनी हुई छत है। जब उद्गार होता है, तब यह फर्श थोडा-सा ऊपर को उठ आता है और दरारें दीखने लगती हैं, जिनमें से आग के फव्वारे छूटने लगते हैं; विवर के पार्श्वों में से लावा फूट कर बहने लगता है और लाल गर्म पिघले हुए पदार्थ की धारा के रूप में समुद्र में गिरता है।

अपेक्षाकृत हल्की ज्वालामुखीय सक्रियता उष्णोत्सों (Geyser) (गीज़र) और गर्म झरनों का रूप ले लेती है, जो आइसलैंड और न्यूज़ीलैंड जितने दूर-दूर के स्थानों में भी पाये जाते हैं। एक दो अवसरों पर ज्वालामुखी का वास्तविक जन्म होते भी देखा गया है। २० फरवरी १९४३ को मैक्सिको का एक

किसान अपना खेत जोत रहा था कि एकाएक भूमि काँपने लगी, दरारें और खोखले शंकु दिखाई पड़ने लगे और धुआँ निकलने लगा। बिल्कुल स्वभावतः वह किसान सहायता पाने के लिए भागा। जब वह पचास मिनट बाद वापस आया, तब उद्गार भली-भाँति और सही अर्थों में शुरू हो चुका था, और अगले दिन प्रात:काल तक इस नये ज्वालामुखी की ऊँचाई तीस फुट हो गई थी। एक ही वर्ष में यह एक हजार फुट ऊँचा हो गया। यह अभी तक सक्रिय है। इसका नाम पारीक्युतीन रखा गया है।

ब्रिटेनवासियों का सौभाग्य है कि वहाँ पृथ्वी की पपड़ी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है और वहाँ कोई बड़े विस्फोट नहीं होते; किन्तु अतीत में यह स्थिति नहीं थी। बहुत समय पहले ब्रिटेन में, या और ठीक-ठीक कहा जाये, तो जहाँ अब ब्रिटेन है, उस स्थान पर भी ज्वालामुखी थे और भूकम्प आते थे। क्राकातोआ की जैसी भीषण विपत्तियाँ और पारीक्युतीन के जैसे अप्रत्याशित उद्गार हमें यह स्मरण कराते हैं कि पृथ्वी अभी तक भी एक सक्रिय जगत् है। यह पहले जितनी प्रचंड थी, उतनी अब भले ही न रही हो, किन्तु यह अब भी बहुत अधिक सप्राण है।

अध्याय बारह

पृथ्वी का वायु का आवरण

जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, पृथ्वी का बाहरी आवरण, वायु, हमारे लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि स्थल या समुद्र। हम वायुमंडल के महासागर में ठीक उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार मछलियाँ पानी के महासागर में रहती हैं और इसके बिना हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते।

यदि काफी कुहरा या धूल न हो, तो हम वायु को साधारणतया 'देख' नहीं सकते, इसलिए हम बहुत बार यह भूलने लगते हैं कि यह विद्यमान भी है। फिर भी हम इसे आसानी से 'सुन' सकते हैं और इसके प्रभावों को अनुभव कर सकते हैं। यदि आप अपने हाथ की अंजलि सी बना लें और उसे तेजी से चारों ओर घुमायें, तो आपको अनुभव होगा कि वायु के कणों को धक्का लग रहा है; यदि एक बेंत को तेज़ी से हिलाया जाये, तो जब वह अपने मार्ग में से वायु को परे धकेलती है, तब उससे साँय-साँय की आवाज़ होती है।

अन्य सब गैसों की भाँति वायु परमाणुओं और परमाणु समूहों अर्थात् अणुओं से बनी हुई है, लेकिन यह कोई तत्व नहीं है; यह विभिन्न गैसों के मिश्रण से बनी है, जिनमें से मुख्य ऑक्सीजन और नाइट्रोजन हैं। नाइट्रोजन इसका सबसे प्रचुर घटक है और यह वायुमंडल का लगभग

७८ प्रतिशत भाग है, किन्तु हमारे दृष्टिकोण से सबसे महत्त्वपूर्ण गैस ऑक्सीजन है, जिसका हमें श्वास लेने के लिए प्रयोग करना ही पड़ता है। इसमें थोड़ी-थोड़ी मात्रा अन्य तत्त्वों की भी है, जैसे कि आर्गोन की, और थोड़ी सी कार्बन डाइ-ऑक्साइड भी है। अतीत काल में, कोयला वनों के काल से पहले कार्बन डाइ-ऑक्साइड अब की अपेक्षा कहीं प्रचुर रही होगी; वनस्पतियों ने इसके अधिकांश भाग को हटा कर उसके स्थान पर विशुद्ध ऑक्सीजन दे दी है।

पहले यह समझा जाता था कि वायुमंडल ने सारे आकाश को भर रखा है और यह तारों से भी परे दूर-दूर तक फैला हुआ है। आजकल हमें मालूम है कि यह बात तो बिल्कुल है ही नहीं। यदि हम पैमाने के अनुसार एक नमूने का रेखाचित्र तैयार करें, और पृथ्वी का आकार एक गोल अंडे जितना रखें, तो वायु के आवरण की मोटाई लगभग उतनी ही होगी, जितनी कि अंडे के छिलके (कवच) की होती है। लगभग १२० मील की ऊँचाई पर इतने कम परमाणु और अणु रह जाते हैं कि 'प्रतिरोध' समाप्त हो जाता है, और सब उद्देश्यों तथा प्रयोजनों की दृष्टि से हम असली अन्तरिक्ष में पहुँच जाते हैं, हालाँकि वायुमंडल की अत्यल्प मात्रा शायद एक हजार मील तक भी रहती है।

अरब लोग वे सर्वप्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने इस बात को समझा कि वायु सीमित ही है; यह अब से ९०० वर्ष पहले की बात है; किन्तु वे कोई क्रियात्मक प्रयोग नहीं कर सकते थे; वे वायु में ऊपर उड़ कर स्वयं वायुमंडल का अन्वेषण नहीं कर सकते थे। यहाँ तक कि जब अठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में गुब्बारों का आविष्कार हो भी गया था, तब भी एक

या दो मील से अधिक ऊपर जा पाना सम्भव नहीं था और ऊपरी वायुमंडल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान केवल १८९८ के बाद से ही है, जब तीसैरिन द बोर नामक एक फ्राँसीसी वैज्ञानिक ने मनुष्य रहित, केवल उपकरण ले जाने वाले गुब्बारों का प्रयोग करके प्रयोगों की एक महत्त्वपूर्ण माला शुरू की।

ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायु पतली तो होती ही जाती है, साथ ही ठंडी भी होती जाती है। तापमान में गिरावट या 'ह्रास दर' प्रति एक हजार फुट की चढ़ाई के लिए ३ डिग्री फारनहाइट है। यह सच है कि एक हजार फुट ऊँचे शिखर पर खड़ा हुआ व्यक्ति उस दशा की अपेक्षा सूर्य के थोड़ा-सा निकट होगा, जब कि वह समुद्र तल पर खड़ा हुआ होता, परन्तु सूर्य की ९३ करोड़ मील की दूरी को देखते हुए केवल एक हजार फुट कुछ भी नहीं है और उसकी उपेक्षा की जा सकती है। वस्तुतः, सूर्य की किरणें वायु को सीधे तौर पर गर्म नहीं करतीं। होता यह है कि सूर्य की किरणें वायु में से गुज़र कर आती हैं और पृथ्वी से टकराती हैं; और पृथ्वी को गर्म करती हैं; तब पृथ्वी उस ऊष्मा को एक अलग ढंग से विकीर्ण करती है और उसे वायुमंडल में पहुँचा देती है। क्योंकि वायु मुख्यतया पृथ्वी से गर्म होती है, इसलिए ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जायेंगे, त्यों-त्यों हमें अधिक ठंड लगेगी, और ठीक यही बात है, जो होती है, हालाँकि कुछ और भी बातें हैं, जिन पर इस सम्बन्ध में विचार किया जाना चाहिए।

डॉक्टर बोर के उपकरण लदे गुब्बारों ने यह प्रमाणित कर दिया कि तापमान प्रत्याशा के अनुसार ७ मील की ऊँचाई तक गिरना जारी रहता है, और वहाँ तक पहुँच कर यह —७०

डिग्री फ़ारनहाइट के मान तक गिर चुकता है। लेकिन ७ मील से ऊपर पहुँच कर और आगे शीतन होना प्रतीत नहीं होता, और बाद में किये गये प्रयोगों से तो प्रमाणित हो गया कि लगभग ३० मील की तुंगता पर तो वस्तुतः एक उच्चतर तापमान की पट्टी आ जाती है, जो ओज़ोन के कारण है। ओज़ोन गैस ऑक्सीजन का ही एक विशेष रूप है, जिसमें सूर्य की कुछ किरणों का अवशोषण कर लेने—सोख लेने—की क्षमता है।

'तापमान' का वैज्ञानिक अर्थ ठीक वही नहीं है, जो हमारी 'ऊष्मा' की सामान्य धारणा होती है, क्योंकि इसका केवल इतना अर्थ होता है कि परमाणु और अणु तीव्र वेग से इधर-उधर उड़ रहे हैं। इस प्रकार यह कहना सही है कि ३० मील वाली पट्टी वैज्ञानिक अर्थों में 'गर्म' है, परन्तु यह कहना भी उतना ही सही है कि यदि हम वहाँ जायें, तो हमें अपनी त्वचा की गर्मी भी अनुभव नहीं होगी। इसलिए ऊपर उठ कर उच्च तापमान वाली पट्टी में पहुँचने वाले गुब्बारे को कोई खतरा नहीं होता कि वह जल कर समाप्त हो जायेगा।

शनैः-शनैः हमारे लिए अपने वायुमंडल का और जिन परतों से मिल कर यह बना है, उनका एक विश्वसनीय चित्र खींच पाना सम्भव हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वायुमंडल 'छिलकों' की, जैसे कि किसी प्याज़ के होते हैं, एक शृंखला से बना हुआ है; प्याज़ के छिलकों से इनमें केवल इतना अन्तर है कि इनके सीमान्त अपेक्षाकृत कम स्पष्ट हैं; और इनमें से प्रत्येक 'छिलके' का अपना अलग नाम है। इनमें सबसे निचला जिसमें हम रहते हैं, क्षोभ-मंडल (ट्रौपोस्फ़ियर)

है और सब सुपरिचित बादल तथा इसी प्रकार के अन्य प्रपंच इसमें विद्यमान हैं। यह लगभग ७ मील की ऊँचाई पर जा कर समाप्त हो जाता है। इसके ऊपर क्षोभ-सीमा (ट्रौपोपौज़) आती है और उसके बाद हम उस क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, जिसकी डॉक्टर बोर ने जाँच पड़ताल की थी और जिसका नाम उसने समताप-मंडल (स्ट्रैटोस्फ़ियर) रखा था। समताप-मंडल स्वयं भी ६० से ७० मील तक की ऊँचाई पर समाप्त हो जाता है और इसके आगे आयन-मंडल (आयनोस्फ़ियर) आता है। सबसे बाहर का छिलका बहिर्मंडल (ऐक्सोस्फ़ियर) लगभग १२० मील की ऊँचाई पर शुरू होता है और इसकी कोई सुनिश्चित ऊपरली परिसीमा नहीं है; यह क्रमशः कम होते-होते उस स्थान पर जा कर समाप्त हो जाता है, जहाँ वायु के कण बिल्कुल ही नहीं बचते।

समताप-मंडल का अन्वेषण करने वाला सबसे पहला व्यक्ति प्रसिद्ध वैज्ञानिक बेल्जियमवासी प्रोफ़ैसर पिकार्ड था। २७ मई १९३१ को वह एक विशेष गुब्बारे में बैठ कर ऊपर उड़ा और ९॥। मील की ऊँचाई तक पहुँचा। यह यात्रा महत्त्व पूर्ण घटनाओं से रहित नहीं रही। उसने अपनी उड़ान औग्स-बर्ग नामक शहर से शुरू की और इस उड़ान में हवा उसे ठीक आल्प्स के ऊपर से उड़ाती हुई ले गई और अन्त में वह एक पहाड़ी हिमनद (ग्लेशियर) के शिरोभाग पर उतरा। उससे अगले वर्ष प्रोफ़ैसर पिकार्ड १०॥ मील की ऊँचाई तक पहुँचा और कुछ अधिक सुविधापूर्वक इटली के एक मैदान में उतरने में समर्थ हुआ। इसके तीन वर्ष बाद, विभिन्न दलों द्वारा कई और यत्न किये जाने और एक दो भीषण दुर्घटनाएँ घट चुकने के पश्चात्

दो अमेरिकी स्टिवन्स, और ऐंडरसन, पूरे १४ मील की ऊँचाई तक पहुँचे और अभी तक मनुष्य-सहित गुब्बारे की उड़ान का यही शिरोमान (रिकॉर्ड) बना हुआ है। इन तुंगताओं से दिखाई पड़ने वाले आकाश के विषय में नई (अनजानी) बातों में से एक यह है कि वहाँ से आकाश उससे भिन्न रंग का दिखाई पड़ता है, जो आकाश का रंग हमें मालूम है। सूर्य से सब रंगों की किरणें निकलती हैं, किन्तु लाल और पीली किरणें तो सघनतर वायु को पार कर सकती हैं, पर नीली किरणें सारे आकाश पर फैल जाती हैं, इस प्रकार नीलिमा सब ओर बिखर जाती है। ऊपर ऊँचाई पर इतनी काफी वायु नहीं बचती कि वह नीले प्रकाश को इतना पूरी तरह बिखेर सके। अतः, आकाश का रंग गहरा हो कर जामुनी, धूसर और अन्त में काला होता जाता है। बाहर अन्तरिक्ष में, बीस या तीस मील की ऊँचाई पर, आकाश सूर्य के निकट तक भी बिल्कुल श्यामल ही दिखाई पड़ता होगा।

ऐसे गुब्बारे, जिनमें मनुष्य नहीं बैठे थे, अवश्य ही उससे भी अधिक ऊँचाई तक उड़े हैं, जहाँ तक कि स्टिवन्स और ऐंडरसन उड़ने में समर्थ हुए थे, किन्तु हाल के वर्षों में समताप-मंडल और यहाँ तक कि आयन-मंडल के भी अन्वेषण के लिए एक नई पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा है। यह पद्धति है राकेट शक्ति का उपयोग। एक राकेट विमान ८५,००० फुट ऊँचाई तक जा चुका है और मनुष्य-रहित राकेट २५० मील की ऊँचाई तक पहुँच चुके हैं। क्योंकि १२० मील से ऊपर वायु इतनी पतली है कि वह कोई नापा जा सकने योग्य प्रति-रोध नहीं कर सकती, इसलिए हम शायद यह दावा कर सकते

हैं कि हम असली अन्तरिक्ष तक पहुँच चुके हैं।

राकेटों द्वारा किये गये अनुसन्धानों से हमें वायुमंडल की ऊपरली परत के विषय में वहुत कुछ पता चला है। उदाहरण के लिए, आयन-मंडल विशेष रूप से इस कारण रोचक है कि उसमें 'परावर्तक परतें' हैं, जो रेडियो तरंगों को वापस उछाल देती हैं और उनके कारण ही दूर-दूर तक वेतार-संचार संभव हो पाता है। ये खोजें कुछ ही वर्ष पहले शुरू हुई थीं, किन्तु अब तक भी ये बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं और प्रति-वर्ष नई-नई खोजें हो रही हैं।

वायुमंडल, ऑक्सीजन प्रदान करने के अलावा, जिससे हम साँस लेते हैं, हमें बाह्य अन्तरिक्ष के अनेक संकटों से भी बचाता है। उदाहरण के लिए, समताप-मंडल में ओज़ोन की परत सूर्य से होने वाले कुछ विकिरणों को रोक लेती है, जो अन्यथा पृथ्वी पर विद्यमान समस्त जीवन को नष्ट कर देते, और वायुमंडल की बहुत गहराई हमारे ऊपर कॉस्मिक किरणों की वमवारी को होने से रोकती है—ये कॉस्मिक किरणें सवसे बुरे विचित्र अत्यन्त वेगवान कण हैं और यह अभी तक रहस्य ही है कि वे कहाँ से आते हैं। इसके अतिरिक्त उल्काएँ भी हैं, जो छोटे-छोटे शैल खंड हैं; जो सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं; वायु का रक्षात्मक आवरण इनको भी पृथ्वी तक आने से रोकता है।

जब तक कोई उल्का वायु-रहित अन्तरिक्ष में गति करती रहती है, तब तक उसकी गति को रोकने वाली कोई वस्तु नहीं होती; परन्तु यदि कोई उल्का पृथ्वी के निकट आ जाये, तो वह पृथ्वी के ज़ोरदार गुरुत्वाकर्षण से नीचे की ओर खिंच

आ सकती है। ज्यों ही वह प्रतिरोधी क्षेत्र में, जो १२० मील से नीचे है, प्रवेश करती है, त्यों ही वह वायु के कणों से रगड़ खाती है और पहले कोष्ण, फिर गर्म होती है और अन्त में जल उठती है। इसी को हम 'टूटता हुआ तारा' कहते हैं। अधिकांश उल्काएँ तब तक जल कर समाप्त हो जाती हैं, जब वे पृथ्वी से ७० या ६० मील की दूरी तक आ चुकी होती हैं, किन्तु कोई-कोई अपेक्षाकृत बड़ी उल्काएँ पृथ्वी पर गिरने तक भी बची रह जाती हैं और बाद में शैलीय ढेर या 'उल्कापिंड' (मीट्योराइट) के रूप में पाई जाती हैं। इस प्रकार की एक विशेष रूप से बड़ी उल्का १६०८ में साइबेरिया में गिरी थी और वह जहाँ भूमि से टकराई थी, उसके चारों ओर पचास-पचास मील दूर तक उसने वृक्षों को भूमि पर लिटा दिया था।

यदि वायुमंडल न होता, तो हम सारे ही समय उल्काओं की बमबारी के शिकार हुआ करते, और पृथ्वीतल पर जीवन बहुत ही कष्टपूर्ण होता; परन्तु वायुमंडल द्वारा रोकथाम होने के कारण हमें इस बात से डरने की आवश्यकता नहीं है कि कोई पत्थर हमारे सिर पर आ पड़ेगा। सम्पूर्ण इतिहास में केवल चार पाँच व्यक्तियों के ही उल्का पिंडों से घायल होने का पता चला है।

ऊपरली वायु का सबसे सुन्दर प्रपंच असंदिग्ध रूप से 'ध्रुवीय ज्योति' या 'उत्तरी प्रकाश' है। ये प्रकाश सूर्य द्वारा फेंके जा रहे विद्युताविष्ट कणों के कारण उत्पन्न होते हैं; ये कण पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुवों की ओर आकृष्ट होते हैं और ऊपरी वायुमंडल से टकराते हैं, जिससे विचित्र चमक उत्पन्न

होती है। सुदूर उत्तर और दक्षिण में ये ध्रुवीय ज्योतियाँ, जब सूर्य क्षितिज से नीचे हो, तब लगभग सारे ही समय देखी जा सकती हैं; इंग्लैंड में वे अपेक्षाकृत कम बार दिखाई पड़ती हैं, क्योंकि इंग्लैंड चुम्बकीय ध्रुव से दूर पड़ता है, परन्तु कभी-कभी बड़े सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, २६ जनवरी, १९३८ को दक्षिणी इंग्लैंड से देखने पर सारा आकाश बहुत ही शानदार लाल रंग में चमकता दिखाई दिया था, और बहुत से लोगों ने तो यह मान लिया था कि लंदन में आग लग गई है।

निचली वायु का, जिसमें बादल, तूफान, कुहरे और चक्रवात (साइक्लोन) आते हैं, अध्ययन मौसम विज्ञान का विषय है, और उस पर एक अलग पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। लेकिन जब हम अपने ग्रह की चर्चा करते हैं, तब हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वायुमंडलीय आवरण पृथ्वी का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। वायु के बिना जीवन कभी शुरू ही नहीं हो सकता था और तब पृथ्वी की कहानी अन-लिखी ही रह जाती।

अध्याय तेरह

पृथ्वी एक संसार के रूप में

जब हम भूमि के किसी समतल प्रदेश पर, जैसे किसी लम्बे रेतीले समुद्र तट पर या घास के मैदान पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें यह बात भली-भाँति समझ में आ जाती है कि शुरू के लोग क्यों यह मानते थे कि पृथ्वी चपटी (सपाट) है। इस तथ्य को कि यह एक गोलक है, अवश्य ही अब से बहुत पहले स्वीकार कर लिया गया था, और इरैटोस्थीनीज़ नामक एक यूनानी वैज्ञानिक तो, जो ईसा से लगभग २५० वर्ष पहले हुआ था, पृथ्वी का आकार भी काफी कुछ सही-सही नाप पाने में समर्थ हुआ था; परन्तु उस समय भी यह माना जाता था कि पृथ्वी ब्रह्मांड का केन्द्र है और सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य आकाशीय पिंड एक दिन में पृथ्वी का एक चक्कर लगा लेते हैं। अब से केवल ४०० वर्ष पहले तक भी इस विचार को गलत प्रमाणित नहीं किया जा सका था।

आकाशीय पिंड एक दिन में एक बार पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए क्यों प्रतीत होते हैं, इसका कारण समझाना आसान है। पृथ्वी अपने अक्ष (धुरी) पर घूमती है (२४ घंटे की अवधि में) और इसके इस घूमने के कारण ही सूर्य और तारे घूमते हुए प्रतीत होते हैं। पृथ्वी का अक्ष आकाश में उत्तर की ओर ध्रुव (पोलैरिस) तारे के निकट एक विन्दु की ओर

संकेत करता है, और इसलिए ध्रुव तारा लगभग स्थिर, और अन्य प्रत्येक पिंड उसके चारों ओर चक्कर काटता हुआ प्रतीत होता है। (यह बात सूर्य पर भी लागू होती है, परन्तु दिन में तो तारे सूर्य की चमक से छिप जाते हैं।) भूमध्यरेखा के दक्षिण में ध्रुव तारा कभी दिखाई नहीं पड़ सकता, क्योंकि पृथ्वी का गोलक बीच में आ जाता है; दक्षिणी ध्रुव की ओर कोई चमकीला तारा नहीं है; इसके अधिकतम निकट एक धुँधला-सा तारा है, जिसका नाम सिग्मा औक्टेन्टिस है।

एकमात्र पिंड, जो सचमुच ही पृथ्वी की परिक्रमा करता है, चन्द्रमा अवश्य है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इसका जन्म सम्भाव्यत: पृथ्वी से नहीं हुआ था, अपितु यह शुरू से ही एक पृथक् गोलक था; लेकिन अन्तरिक्ष में यह अन्य पिंडों की अपेक्षा हमारा कहीं अधिक निकट का पड़ौसी है और इस रूप में पृथ्वी पर इसका बड़ा प्रभाव है। विशेष रूप से, ज्वार-भाटों का यह मुख्य कारण है।

ज्वार-भाटों को समझाने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि यह कल्पना की जाये कि पृथ्वी पर सब जगह एक उथला सम-रूप समुद्र है, जैसा कि पृष्ठ १४८ पर दिये गये आरेख में दिखाया गया है। चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण का खिचाव इतना प्रबल होता है कि 'ज्वा' बिन्दु पर, चन्द्रमा के ठीक नीचे, पानी का ऊँचा ढेर लग जायेगा, और इसी प्रकार का एक दूसरा उभार पृथ्वी के दूसरी ओर 'ज्वा' बिन्दु पर होगा। (स्पष्टत:, यह आरेख पैमाने के अनुसार नहीं बनाया गया है, और इसमें जो पानी की परत दिखाई गई है, वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक गहरी है, जितनी कि वह कभी भी वस्तुतः हो सकती है।)

पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमते समय यह पानी का ढेर उसके साथ-साथ नहीं घूमेगा, अपितु चन्द्रमा के नीचे ही बना रहने का यत्न करेगा। इसका परिणाम यह होता है कि पृथ्वी के घूमते रहने पर भी पानी के ढेर वहीं बने रहते हैं, जहाँ कि वे हैं और पृथ्वी के हर चक्कर के साथ पृथ्वी की पूरी सतह पर चारों ओर फिर जाते हैं, जिससे प्रत्येक स्थान पर प्रतिदिन दो बार ज्वार आता है।

क्योंकि चन्द्रमा भी अपने मार्ग पर गति कर रहा है, इसलिए ये पानी के ढेर स्वयं भी बिल्कुल गतिहीन नहीं हैं। वे चन्द्रमा का अनुकरण करते हुए धीरे-धीरे जगह बदलते रहते हैं और औसत रूप से किसी भी बन्दरगाह पर ज्वार प्रतिदिन पहले दिन की अपेक्षा ५० मिनट देर से आता है।

ज्वार
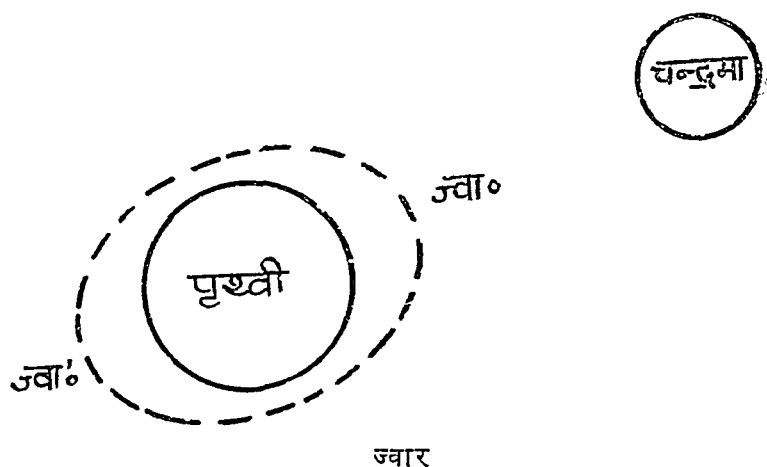
जैसा कि हमें मालूम है, पृथ्वी सब ओर से इस प्रकार की जलीय परत से ढकी हुई नहीं है। कुछ महासागर अन्यों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे हैं और स्थल प्रदेश पानी के

नियमित प्रवाह में बाधा डालते हैं, जिससे ज्वार उतने इकसार नहीं आते, जितने कि वे किसी पूर्णतया समुद्र से आवृत्त ग्रह पर आते। स्थानीय प्रभाव बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, साउथम्पटन में समुद्र की तट-रेखा की आकृति और वाइट के छोटे से द्वीप की विद्यमानता के कारण दोनों ज्वार तुरन्त एक के बाद एक आते हैं।

सूर्य के द्वारा उठाये गये ज्वार चन्द्रमा के ज्वारों की अपेक्षा बहुत निर्बल होते हैं, फिर भी उनमें काफ़ी शक्ति होती है। जब सूर्य और चन्द्रमा, दोनों का खिंचाव एक ही दिशा में होता है, तब उसके फलस्वरूप ऊँचा या 'बृहत्' (स्प्रिंग)[1] ज्वार-भाटा आता है; जब सूर्य और चन्द्रमा का खिंचाव एक-दूसरे के साथ समकोण बनाते हुए होता है, तब 'लघुतम' (नीप) ज्वार होता है, और वह कम प्रचंड होता है। इतना ही नहीं, समुद्रों की ही भाँति स्थल प्रदेशों पर भी ज्वारीय प्रभाव पड़ते हैं, अवश्य ही इन्हें विशेष उपकरणों के बिना नहीं पहचाना जा सकता; और वायुमंडल में भी ज्वार आते हैं।

समस्त ब्रह्मांड में पृथ्वी की स्थिति क्या है, इसकी अपने मन में सही धारणा बनाने के लिए सौर-मंडल के अन्य ग्रहों के साथ इसकी तुलना करना मनोरंजक होगा। इनमें से चार, बृहस्पति, शनि, अरुण (यूरेनस) और वरुण (नैप्च्यून) अत्यधिक विशाल हैं—अकेले बृहस्पति में ही १३०० पृथ्वियाँ समा सकती हैं—और शुक्र लगभग पृथ्वी जितना ही बड़ा है, जबकि मंगल,

१. अंग्रेज़ी शब्द 'स्प्रिंग टाइड' में 'स्प्रिंग' का वसन्त ऋतु से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यम (प्लूटो) और बुध निश्चित रूप से पृथ्वी से छोटे हैं। ये विशालकाय ग्रह ठंडे और हमारे लिए अनाकर्षक हैं और उनके वायुमंडल विषैले हैं, और यम (प्लूटो) तथा बुध इतने छोटे हैं कि वे अपनी अधिकांश वायु खो चुके हैं, जो सम्भाव्यतः किसी समय उन पर थी; इस प्रकार केवल शुक्र और मंगल ही ऐसे हैं, जो थोड़ा वहुत पृथ्वी जैसे हैं। मंगल, जो सूर्य से पृथ्वी की अपेक्षा अधिक दूर है और जिसका व्यास पृथ्वी के व्यास से आधा है, एक ठंडा और शुष्क गोलक है, और वहाँ के वायुमंडल में ऑक्सीजन इतनी कम है कि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वहाँ क्षुद्र पौधों के सिवाय अन्य कुछ भी जीवित नहीं रह सकता। शुक्र एक समस्या बना हुआ है। क्योंकि इसका आकार और द्रव्यमान लग-भग ठीक पृथ्वी के जितना ही है, इसलिए इसे पृथ्वी की जैसी दशा में ही होना चाहिए, किन्तु यह है नहीं। इसका वायु-मंडल अधिकतर कार्बन डाइ-ऑक्साइड से बना हुआ है और इसकी सतह अवश्य ही भीषण रूप से गर्म होगी। प्रत्यक्षतः, वहाँ कोई वनस्पतियाँ नहीं हैं, जो कार्बन डाइ-ऑक्साइड को ले कर उसके स्थान पर ऑक्सीजन उत्पन्न कर सकें; और यह सम्भव है कि इस समय शुक्र उस दशा में हो, जिसमें पृथ्वी कैम्ब्रियन कल्प में थी—एक ऐसी दुनियाँ, जिसमें विशाल कोष्ण महासागर फैले हुए हैं, जिनमें जीवन के प्रथम चिह्न प्रकट होने शुरू हुए हैं। जब तक हम अन्तरिक्ष को पार करना न सीख लें, तब तक हम इस बात का निश्चयपूर्वक पता नहीं कर सकते, और अभी अनेक वर्षों तक शुक्र ग्रह पर हमारे पहुँच पाने की कोई सम्भावना नहीं है, फिर भी खोज

करना मनोरंजक तो होगा ही।

सौरमंडल से बाहर हम तारों पर आते हैं। प्रत्येक तारा अपने आप में एक सूर्य है, और सम्भाव्यत: इनमें से कुछ सूर्यों के अपने-अपने ग्रह हैं, यह भी सम्भाव्य है कि अन्य पृथ्वियाँ भी हों, जिन पर अन्य मनुष्य रहते हों, परन्तु इस क्षेत्र में दूरियाँ इतनी अधिक हैं कि हम कभी इस बात का निश्चयपूर्वक पता लगाने में समर्थ न होंगे। लेकिन यह विचार आनन्ददायक है कि शायद हम इस ब्रह्मांड में अकेले न हों।

तो, पृथ्वी उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि हम इसे किसी समय मानते थे। यह एक छोटा-सा ग्रह है, जो एक बिल्कुल सामान्य-से सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रहा है और इसमें कुछ भी विचित्रता नहीं है—शायद सिवाय इसके कि यह ऐसी दशा में है, जो पशुओं और मनुष्यों के विकास के लिए उपयुक्त है।

अध्याय चौदह

भविष्य की ओर

हमने पृथ्वी की युग-युगान्तर की कहानी की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अब हमें केवल यह देखना है, कि हम पृथ्वी के भविष्य के इतिहास के विषय में क्या पता लगा सकते हैं और यह भविष्यवाणी करना शेष है कि आगे आने वाले करोड़ों वर्षों में क्या कुछ होने की सम्भावना है।

यद्यपि तरुण पृथ्वी की सक्रियता शान्त हो गई है, फिर भी यह निश्चित है कि अभी उद्‌गार (विस्फोट), भूकम्प, पर्वत-निर्माण और विक्षोभ बहुत समय तक होते रहेंगे। समुद्र आगे बढ़ेंगे और पीछे हटेंगे, स्थल भागों पर पानी भरेगा और उनका स्थान लेने के लिए समुद्र की तलियाँ ऊपर उठेंगी। शायद ब्रिटेन फिर यूरोप के साथ जुड़ जायेगा; उत्तर सागर शायद फिर स्थल बन जाये और हो सकता है कि पुराने गोंडवानालैंड के कुछ भाग फिर पानी के नीचे से ऊपर उठ आयें। अब से दस लाख वर्ष बाद पृथ्वी का नक्शा वैसा ही दिखाई नहीं पड़ेगा, जैसा कि वह अब दिखाई पड़ता है। कोष्णतर जलवायु के लम्बे दौरों के बीच-बीच में हिम-युग भी आयेंगे और मनुष्य तथा पशु, दोनों ही ठीक उसी प्रकार बदलेंगे और विकसित होंगे, जैसे कि वे अतीत में होते आये हैं।

किन्तु जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, ये परिवर्तन अपेक्षाकृत महत्त्वहीन हैं। यदि कोई नया हिम–युग आया, उतना ही कठोर, जितना कि अत्यन्त नूतन कल्प का हिमनद का घोरतम दौर था, तो भी हम शायद उसके बाद भी बच ही जायेंगे, भले ही अपने आपको उन परिस्थितियों के अनुकूल ढालना सीखने से पहले बहुत से लोग मर भी जायें। हमारा ज्ञान और कौशल हमें बचा लेगा और अपने कस्बों और शहरों को जलप्लावित क्षेत्रों से हटा कर नये स्थलों पर ले जाना हमारे लिए केवल 'असुविधाजनक' से बढ़ कर कुछ न होगा। सबसे बड़ी समस्या और भी कहीं आगे भविष्य में निहित है।

जिस प्रकार जीवन शुरू हुआ है, ठीक उसी प्रकार—कम-से-कम जहाँ तक पृथ्वी का सम्बन्ध है—यह अवश्य ही समाप्त भी होगा ही। हमारा यह ग्रह—पृथ्वी सदा निवास योग्य नहीं रहेगा। इस बात का कोई खतरा नहीं है कि यह अपना वायुमंडल गँवा बैठे और पृथ्वी की आन्तरिक ऊष्मा समाप्त हो जाने से भी कुछ विशेष बनेगा-बिगड़ेगा नहीं, किन्तु हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि हम पूर्णतया सूर्य पर आश्रित हैं—और सूर्य स्वयं शाश्वत नहीं है।

पहले यह समझा जाता था कि सूर्य धीरे-धीरे जल कर समाप्त हो रहा है और यह कि सुदूर भविष्य में एक ऐसा समय आयेगा, जब यह इतना पुराना और मन्द पड़ जायेगा कि पृथ्वी अतिशीतल हो जायेगी, यहाँ तक कि वायु भी जम कर ठोस चक्का बन जायेगी। इसका निश्चित रूप से अर्थ है कि सब जीवित वस्तुएँ समाप्त हो जायेंगी, किन्तु अब यह पता चला है कि यह प्रस्तुत चित्र गलत है। ज्यों-ज्यों

सूर्य की आयु बढ़ रही है, त्यों-त्यों यह क्रमशः अधिक गर्म होता जा रहा है। अन्त में यह एक बार ज़ोर से चमकेगा और उसके बाद सिकुड़ कर एक छोटा-सा सघन तारा बन जायेगा, जो उससे बड़ा नहीं होगा, जितनी कि पृथ्वी अब है। इस प्रकार के बहुत से पुराने तारे इस समय ज्ञात हैं (खगोल वैज्ञानिक उन्हें 'सफेद बौने' कहते हैं), परन्तु इस बात की संभावना नहीं है कि मनुष्य सूर्य की अन्त में होने वाली उस मृत्यु को देखने के लिए जीवित बच पायेंगे। पृथ्वी उस अपेक्षाकृत अल्पकालीन, किन्तु प्रचंड चमक से बच पाने की आशा नहीं कर सकती, जो इस प्रकार सिकुड़ने से पहले होती है।

डॉक्टर ऊपिक द्वारा की गई गणनाओं से यह पता चलता प्रतीत होता है कि यह भीषण विपत्ति हम पर लगभग एक अरब वर्ष बाद आयेगी। यह एकाएक नहीं आयेगी। इससे पहले काफी चेतावनी मिलेगी; और यदि तब तक मानव जाति ब्रह्मांड के रहस्यों को जान चुकी होगी, जैसा कि हो सकता है, तो संभव है कि मानवता इस पृथ्वी को बिल्कुल छोड़ जाने और किसी अन्य सुख-सुविधायुक्त संसार में चली जाने में समर्थ हो जाये।

हो सकता है कि हमारा अनुमान बिल्कुल ही गलत हो। हो सकता है कि सूर्य उस प्रकार चमके ही नहीं; हमारा वर्तमान ज्ञान इतना काफ़ी नहीं है कि हम निश्चयपूर्वक कुछ कह सकें, और किसी अन्य ग्रह पर चले जाने की बात हमारे वर्तमान स्तरों को देखते हुए निरी कल्पना की उड़ान ही है। किन्तु यदि डॉक्टर ऊपिक का आकलन (अन्दाज़ा) सही भी

हो, तो भी हमारे सामने एक समूचा भू-वैज्ञानिक जीवन-काल पड़ा है। एक अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन का मुश्किल से आरम्भ ही हुआ था; अब से एक अरब वर्ष बाद, जब खतरा निकट आ पहुँचेगा, हो सकता है कि हम बचने का कोई रास्ता ढूँढ निकालें।

चाहे जो हो, इस समय पृथ्वी एक सुखद स्थान है। हमने इसको जीता है और इसका अन्वेषण किया है और हमें एक महान् अवसर प्राप्त है कि हम शान्ति और समृद्धि में जीवनयापन कर सकें। हम इस सुअवसर को ग्रहण करते हैं या नहीं, यह पूर्णतया स्वयं हम पर ही निर्भर है।

परिशिष्ट-१

पृथ्वी के इतिहास के भू-वैज्ञानिक काल

(१) कल्प	(२) कितने करोड़ वर्ष पूर्व हुआ से	(३) तक	(४) कितने करोड़ वर्ष रहा	(५) टिप्पणियाँ
		प्राक् कैम्ब्रियन महाकल्प		
आद्य जीव कल्प (आर्कियोज़ोइक) प्राग्जीव कल्प (प्रोटीरोज़ोइक)	३००	५२	२५०	पृथ्वी ठंडी हो रही थी। भारी वृष्टियाँ। जीवन के प्रथम चिह्न।
		निम्न पुराजीव (पैलियोज़ोइक) महाकल्प		
कैम्ब्रियन कल्प	५२	४२	१०	समुद्री जीव-जन्तु। ट्राइलोबाइट प्रधान।
ऑर्डोविशन कल्प	४२	३५	७	समुद्री जीव-जन्तु। सर्वप्रथम मछली-सदृश प्राणी।
सिल्यूरियन कल्प	३५	३२	३	सबसे पहली मछलियाँ। सर्वप्रथम स्थलीय पौधे।
		उपरि पुराजीव (पैलियोज़ोइक) महाकल्प		
डिवोनी कल्प	३२	२७·५	४·५	मछलियाँ। सर्वप्रथम उभयचर (जल-स्थलचर) प्राणी।

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
				स्थलीय पौधों का प्रसार। व्यापक ज्वालामुखी क्रिया।
कार्बनी कल्प	२७·५	२२	५·५	पत्थर के कोयले के वनों का काल (निम्न कार्बनी युग) उभयचर प्राणियों का प्रसार। पंख वाले कीट।
पर्सियन कल्प	२२	१९·५	२·५	सरीसृपों का प्रसार; अन्तिम टाइलोबाइट। विविध प्रकार के जल-वायु; पर्मियन हिम युग।
मध्य जीव महाकल्प (मैसोज़ोइक)				
ट्रियैसिक कल्प	१९·५	१७	२·५	विशाल समुद्री सरीसृप; डाइनोसौर; ऐमोनाइट। सर्व प्रथम स्तनपायी प्राणी।
जुरैसिक कल्प	१७	१४	३	स्थल पर और समुद्र में सरीसृप प्रधान। उड़नेवाले सरीसृप, फूलोंवाले पौधे।
क्रिटैशस कल्प	१४	७	७	सरीसृप इस युग की समाप्ति पर मर चले। दाँतों वाले पक्षी; वृक्ष, आधुनिक प्रकार की मछलियाँ और पौधे। समुद्रों का अधिकतम विस्तार। अन्तिम ऐमोनाइट।

	(२)	(३)	(४)	(५)
तृतीय महाकल्प (टर्शियरी)				
आदि नूतन कल्प (ईओसीन)	७	४·५	२·५	विशाल डाइनोसौर अब विलुप्त हो गये। मगरमच्छ कछुए। बिना दांत वाले पक्षी। स्तनपायी प्राणी प्रधान।
अल्प नूतन कल्प (ओलिगोसीन)	४·५	३·५	१	गिबन-सदृश प्राइमेट (वानर) आधुनिक प्रकार के कीट।
मध्य नूतन (मायोसीन)	३·५	१·५	२	आरम्भिक कपि (एप); कृपाण दन्ती बाघ आदि। पर्वतों (हिमालय आदि) का निर्माण।
अति नूतन (प्लायोसीन)	१·५	·१	१·५	आधुनिक प्रकार के स्तन-पायी।
चतुर्थ महाकल्प				
अत्यन्त नूतन (प्लीस्टोसीन)	·१	—	·१	आरम्भिक मनुष्य। मैमथ (महाहस्ती) आदि। हिम युग काल।
नूतनतम (हौलोसीन)	पिछले १०,००० वर्ष			मनुष्य। लगभग ८.००० ईसा पूर्व से शुरू होने वाला आधुनिक काल।

परिशिष्ट-२

कुछ उपयोगी पुस्तकें

इस पुस्तक में विज्ञान की इतनी शाखाओं का स्पर्श हुआ है कि और आगे अध्ययन के लिए ग्रन्थों की पूरी सूची देना कठिन है। नीचे जो सूची दी जा रही है, वह पूर्ण होने की दृष्टि से बनाई ही नहीं गई, किन्तु वह कम-से-कम उन लोगों के लिए उपयोगी अवश्य रहेगी, जो इस विषय में और गहराई तक जाना चाहते हैं।

भू-विज्ञान पर अनेक पुस्तकें हैं, किन्तु नौटिंघम विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ऐच०ऐच० स्विनर्टन की पुस्तक 'सौल्विंग अर्थ्स मिस्ट्रीज़' (हैरैप द्वारा १९४९ में प्रकाशित) विशेष रूप से अच्छी है। अपेक्षाकृत बड़ी आयु के पाठकों के लिए प्रोफेसर स्विनर्टन की और बड़ी पुस्तक 'दि अर्थ बिनीथ अस' पृथ्वी के वर्तमान और अतीत के विवरण की दृष्टि से प्रथम कोटि की पुस्तक कही जा सकती है। भू-विज्ञान पर दो अन्य बढ़िया पुस्तकें डॉक्टर जी० डबलू० टाइरैल की 'अर्थ ऐन्ड इट्स मिस्ट्रीज' (बैल द्वारा १९५३ में प्रकाशित) और प्रोफेसर ऐच० ऐच० रीड की पुस्तक 'जियोलौजी—ऐन इंट्रोडक्शन टु अर्थ हिस्ट्री' (होम यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी, १९४९) हैं, जबकि डॉक्टर जी० डबलू० हाइमस की 'डिक्शनरी ऑफ़ जियोलौजी' (पैंगुइन रैफ़रैंस बुक्स, १९५४) नामक निर्देश ग्रन्थ के रूप में सर्वोत्तम सहायक है।

भूकम्पों और ज्वालामुखियों के सम्बन्ध में श्री ऐच० टैजियैफ़ की पुस्तक 'क्रेटर्स ऑफ़ फ़ायर' (हैमिल्टन, १९५२) विशेष रूप से रुचिकर है और विशद अध्ययन के लिए सर हैरल्ड जैफ़्रीज़ की पुस्तक 'अर्थक्वेक्स ऐंड माउन्टेन्स' (मैथ्युऐन, १९३५) है। समुद्र विषयक

अध्ययन श्री राशेल कार्सन की पुस्तक 'दि सी ऐराउंड अस' (स्टैपल्स, १९५१) में प्रस्तुत किया गया है।

जिन लोगों का झुकाव खगोल विज्ञान की ओर अधिक है, उनके लिए प्रोफेसर स्मार्ट की पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ दि अर्थ' (कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९५१) सबसे अधिक रुचिकर रहेगी और पृथ्वी-विषयक अध्याय खगोल विज्ञान की अनेक पुस्तकों में दिये गये हैं, जिनमें डॉक्टर एच० पी० विल्किन्स की पुस्तक 'मिस्ट्रीज ऑफ़ दि स्पेस ऐंड टाइम' (मुल्लर, १९५५), और अपनी मेरी पुस्तक 'गाइड टु दि प्लैनैट्स' भी हैं। पृथ्वी विषयक अन्य समस्याओं का विवरण मेरी पुस्तक 'सन्स मिथ्स ऐंड मैन' (मुल्लर, १९५४) में प्रस्तुत किया गया है। इस 'ट्रू बुक' माला में भी दो पुस्तकों का सम्बन्ध इस विषय से है; ये हैं, मेरी अपनी पुस्तक 'वर्ल्ड्स ऐराउंड अस' (मुल्लर, १९५४) और श्री विलियम एफ़० टैम्पल की पुस्तक 'स्पेस ट्रैवल' (मुल्लर, १९५४)।

इस पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी पर्याय

अणु	Molecule	आर्सिनो-	Arsino-
अतिनूतन	Pliocene	थीरियम	therium
अतिशीत	Chill	इग्वैनोडोन	Iguanodon
अत्यन्त नूतन युग	Pleistocene	इक्थ्योर्निस	Ichthyornis
अधिकेन्द्र	Epicentre	इक्थ्योस्टै-	Ichthyo-
अनुप्रस्थ काट	Cross Section	गेलियन	stegalian
अन्तराहिमनदीय	Interglacial	ईओहिप्पस	Eohippus
अन्तरिक्ष	Space	उत्तर ध्रुव-	Arctic-
अपरदन	Erosion	वृत्त	Circle
अभिनव तारा	Supernova	उद्गम केन्द्र	Focus
अभ्यन्तर	Interior	उभश्वासीमीन	Lung fish
अल्प नूतन	Oligocene	उल्का	Meteor
अस्थिल	Bony	उल्कापिंड	Meteorite
आग्नेय	Igneous	उष्ण कटि-	Tropical
आदि नूतन	Eocene	बन्धीय	
आद्यजीव	Archaeozoic	उष्णोत्स	Geyser
आयन मंडल	Ionosphere	ऐमू	Emu
आर्कियोप्टै-	Archaeop-	ऐमोनाइट	Ammonite
रिक्स	teryx	ऐल्डी	Eldey
आर्गन	Argon	ऑर्डोविशन	Ordovician
आर्थ्रोपोड	Arthropod	ऑस्ट्रैकोडैरस	Ostracoderus

कल्प	Period
कवच पट्टी-धारी	Armour-plated
कक्षा	Orbit
कायान्तरित-शैल	Metamorphic rock
कार्बनीफेरस	Carbonirferous
कार्बनिक-पदार्थ	Organic-matter
किलौइया	Kilauea
कैम्ब्रियन	Cambrian
कैलिडोनियन-परिक्रमण	Caledonian-revolution
कोष्ण	Warm
कोयला	Coal
कौक्कौस्टियस	Coccosteus
क्रिटैशस	Cretaceous
क्रोड	Core
क्रोमैग्नडें	Cro-Magnard
क्षय	Decay
क्षोभमंडल	Troposphere
क्षोभसीमा	Tropopause
गाइरफुगला-स्काइर	Geirfug-laskeir
गिल	Gill
गोला, भूमंडल	Globe

ग्रैप्टोलाइट	Graptolite
ग्रेट औक	Great Auk
घोंघे	Snail
चक्रवात	cylone
चतुर्थ कल्प	Quaternary-period
जल-स्थलचर	Amphibian
जीवाश्म-विज्ञान	Palaeontology
जुरैसिक	Jurassic
टिरैनोसौरस	Tyrannosaurus
टैथिस	Tethys
टैरौडैक्टिल	Pterodactyl
ट्राइलोबाइट	Trilobite
ट्रियैसिक	Triassic
ट्रिसैराटोप्स	Triceratops
डाइनोसौर	Dinosaur
डाइमौर्फोडोन	Dimorphodon
डाट	Plug
डिपनोअन	Dipnoan
डिवोनी	Devonian
डीनोथीरियम	Deinotherium
तलछटी	Sedimentary
तुंगता	Altitude

तृतीय	Tertiary
दीर्घवृत्त	Ellipse
द्रव्यमान	Mass
ध्रुवीय ज्योति	Aurora
नियंडरथल-मानव	Neanderthal Man
नियततापी	Warm-blooded
निर्वापित	Extinct
नूतनतम	Holocene
नैप्च्यून	Neptune
पंखड़े	Fins
पत्रकी	Flaky
पदार्थ	Matter
पलायन वेग	Escape-velocity
परावर्तन करना	Reflect
पर्मियन	Permian
पर्वतनक्रियात्मक	Orogenic
पीट	Peat
पुराजीव	Palaeozoic
पेंग्विन	Penguin
पैरापिथैकस	Parapithecus
पैरियासौरस	Pareiasaurus
पैलियोथीरियम	Palaeotherium
प्राइमेट	Primate
प्राक् कैम्ब्रियन	Pre-cambrian
प्राग्जीव	Proterozoic
प्रारूपिक	Typical
फौसिल	Fossil
बलूचीथीरियम	Baluchitherium
बहिर्मंडल	Exosphere
बालुकाश्म	Sandstone
बृहत् ज्वार-भाटा	Spring tide
बैलैम्नाइट	Belemnite
बैलैरोफोन	Bellerophon
ब्रौंटोसौरस	Brontosaurus
भृंग	Beetle
मध्यजीव	Mesozoic
मध्यनूतन	Miocene
महाकल्प	Era
महावृष्टि	Great Rains
मान	Value; Scale
मुखगर्त	Crater
मैगाथीरियम	Megatherium
मैगालोसौरस	Megalosauru
मैग्मा	Magma
मैमथ	Mammoth
मोरीथीरियम	Moeritherium
मौना लोआ	Mauna Loa
यूरिप्टैरिड	Eurypterd

यूरेनस	Uranus	समय-मान	Time scale
यौगिक	Compond	समुद्री सिंह	Sea-lion
रदनक	Canine teeth	सरीसृप	Reptile
रेडियोएक्टिव	Radioactive	सिग्मा ओक्टे-	Sigma-
लघुतम ज्वार	Neap tide	न्टिस	octantis
लीमर	Lemur	सिमै	Sima
वलन	Fold	सिलिकौन	Silicon
विकिरण	Radiation	सिल्यूरियन	Silurian
विश्व, ब्रह्मांड	Universe	सुरक्षा कपाटी	Safety valve
शंकुवृक्ष	Conifer	सैंटियोसौरस	Cetiosaurus
शल्क	Scales	सौरोपौड	Sauropod
शिरोमान	Record	स्तनपायी	Mammal
शिवथीरियम	Sivatherium	हाइडलबर्ग-	Heidelburg
शिस्ट	Schist	मानव	Man
शैल	Rock	हिप्पेरियन	Hipparion
शैल भित्ति	Reef	हिमच्छद }	Icecap
शैलमूल	Magma	हिमछत्र }	
संघनित	Condensed		
समताप-मंडल	Stratosphere	हिमनदन	Glaciation